# शक्तिपात

## कुण्डलिनी महायोग

लेखक

श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

K.2
4096

ॐ

# शक्तिपात

[ कुण्डलिनी महायोग ]

●

: लेखक :
श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज

●

मूल्य ]  सम्वत् २०३७ वि०  [ ६ रुपये

प्रकाशक :
योगश्री पीठ ट्रस्ट (प्रकाशन)
मुनी की रेती (टिहरी गढ़वाल) उ०प्र०
पो०-ऋषिकेश-२४६ २०१

* सर्वाधिकार सुरक्षित *

पंचम संस्करण ... २००० प्रतियाँ
संवत २०४४ ... सन् १९८७

मुद्रक :
अजन्ता प्रिंटिंग प्रेस
चावड़ी गली, मौजपुर
दिल्ली-११००५३

# दो शब्द

आजकल प्रायः यह धारणा हो गयी है कि योग का साधन केवल उग्र तपस्यायुक्त गृहत्यागी ही कर सकते हैं। परन्तु कोई भी भारतीय इस बात से अनभिज्ञ नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने किस प्रकार गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी योग की सर्वोच्च भूमिकाओं को प्राप्त किया था। योगीराज भगवान् कृष्ण का आदर्श जीवन इस बात का प्रमाण है। गृहस्थ आश्रम में रह कर भी उनके दिव्य और अलौकिक गुण तथा कर्मों के कारण हम उन्हें साक्षात् ब्रह्म स्वीकार कर चुके हैं। गृहस्थ आश्रम में किया हुआ साधन तो दोनों लोकों में कल्याणकारी होता है।

यद्यपि यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है कि योग-साधन के लिए दृढ़ और सतत् अभ्यास की आवश्यकता है। पूर्व-पथ-प्रदर्शक भगवान् पतञ्जलि, वसिष्ठ, वेदव्यास आदि के ग्रन्थों को पढ़कर ही उस साधन को प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, असम्भव-सा भी है, क्योंकि इस मार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएँ, जीव के ब्रह्म तक पहुँचने में बाधक होकर, साधक को पथ-भ्रष्ट कर प्रलोभनों में फँसा देती हैं और वह अपने अन्तिम ध्येय—मोक्ष—से वञ्चित रह जाता है।

इस का एकमात्र सरल और सहज उपाय सद्गुरुओं की कृपा ही है। ऐसे सद्गुरु, लोकोपकार की दृष्टि से, सहज ही में सिद्धि देने वाले 'सिद्ध-महायोग' का लाभ अपने 'शक्तिपात' द्वारा जिज्ञासुओं को अनायास की करा देते हैं।

स्मरण रहे कि 'शक्तिपात' और 'मैस्मेरिज्म' में आकाश-

पाताल का भेद है। मैस्मेरिज्म में कर्त्ता (हिप्नाटिस्ट या मैस्मेराइजर) मीडियम या सबजैक्ट (जिसके ऊपर प्रभाव डाला जाता है) को अपने प्रभाव से संज्ञा-शून्य करके उससे अपनी इच्छानुसार कार्य कराता है। ऐसे कार्य स्वार्थ-साधन मात्र के लिए, परमार्थ से कोसों दूर, होते हैं और कर्त्ता का प्रभाव हटते ही मीडियम साधारण दशा से भी गिर जाता है। वह मैस्मेराइजर के प्रति घृणा करने लगता है और उस से भयभीत रहता है। परन्तु शक्तिपात के द्वारा गुरु अपने शिष्य की आत्मशक्ति का विकास करता है। शिष्य की सर्वतोमुखी उन्नति होने से उस की श्रद्धा बढ़ती जाती है और 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' के अनुसार वह अध्यात्म-ज्ञान प्राप्त करता है।

हम मृगतृष्णावत् आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान के पीछे पड़े हुए हैं। यह हमें उसी विनाश की ओर ले जायेगा जिसका फल आज पश्चिम भोग रहा है। यदि हम आत्मानन्द-लाभ करना चाहते हैं, यदि हमें वास्तविक सुख की इच्छा है, यदि हम अपनी सब प्रकार की उन्नति चाहते हैं, यदि हमें अपने देश, जाति और संस्कृति की रक्षा करनी है, तो हमें फिर 'योग-साधन' में ही जुटना होगा। हृदय में तीव्र लालसा हो तो सद्गुरुओं का आज भी नितान्त अभाव नहीं है।

यह पुस्तक सहजसाध्य 'शक्तिपात' के विज्ञान को स्पष्ट करने के लिए परमदयालु श्री पं० मुनिलाल जी स्वामी (श्री १०८ स्वामी विष्णुतीर्थ जी महाराज) ने लिखकर साधकों का परमोपकार किया है।

नेमीचन्द,
अम्बाह (ग्वालियर स्टेट)

लेखक : श्री १०८ स्वामी विष्णु तीर्थ जी महाराज

॥ श्री परमात्मन नमः ॥

# शक्तिपात

## प्रथम पाद

शिवं गंगाधरं तीर्थं तीर्थं नारायणं प्रभुम् ।
योगानन्दमहं वन्दे, शक्तिपातस्य देशिकान् ॥

### शान्ति-पाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!

शक्तिपात एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है जिस के द्वारा गुरु शिष्य में अपनी शक्ति का सञ्चार कर के उस की आध्यात्मिक शक्ति को जगा देता है। आध्यात्मिक शक्ति और आधिभौतिक शक्ति में बड़ा भेद है इसलिए आध्यात्मिक शक्ति का विज्ञान भी आधिभौतिक शक्तियों के विज्ञान से भिन्न होना स्वाभाविक है।

आध्यात्मिक शक्ति का प्रदर्शन भौतिक यंत्रों द्वारा नहीं किया जा सकता, इसलिए यह विज्ञान अभी तक गुप्तप्रायः ही है और जिन लोगों को इसका अनुभव है, वे भी इस का अनुभव अपने सचेतन शरीर में ही करते हैं और उसके दिव्य आनन्द में मस्त रहते हैं। इसीलिए अथवा उक्त विज्ञान के अति सूक्ष्म होने से, न समझने के कारण, वे लोग इस से होने वाले अनुभवों के वर्णन मात्र से ही

सन्तोष मान लेना पर्याप्त समझ बैठते हैं । परन्तु पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिकों की अन्वेषण-प्रणाली का आधुनिक युग इतने से ही सन्तोष मान लेना पर्याप्त नहीं समझता ।

इस में सन्देह नहीं कि आधिभौतिक विद्याओं का सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्वान्वेषण करने के लिए पश्चिम के विद्वान् करोड़ों रुपये खर्च करके, बहुमूल्य यन्त्रों का निर्माण कर के, उन के द्वारा अति सूक्ष्म विषयों को सिद्ध करने का यत्न करते हैं और गणित-शास्त्र की सहायता से उनकी पुष्टि करते हैं। परन्तु अध्यात्म-विद्या प्राप्त करने के लिए किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं है । परमात्मा-रचित सजीव मनुष्य-देह ही यन्त्र और प्रयोगशाला दोनों का काम देता है । सम्भव है कि भावी युग के विद्वान् आध्यात्मिक शक्ति के भी नियम, आधिभौतिक नियमों के सदृश्य खोज निकालें और उन को गणित-शास्त्र के फारमूलों (सूत्रों) में बाँध सकें, परन्तु आज यह सब असम्भव-सा प्रतीत होता है ।

हमारे महर्षियों की छोड़ी हुई विद्या-सम्पत्ति के कोष-स्वरूप पातञ्जल दर्शन और अन्य योग के शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति का ध्येय मोक्ष बताया जाकर कुछ भौतिक सिद्धियों का वर्णन किया गया है । पातञ्जल दर्शन के विभूति पाद में कुछ उच्च कोटि की सिद्धियों को प्राप्त करने के साधन लिखे हैं । उन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने से मालूम होता है कि उन में से हर-एक सूत्र में एक अति गहन वैज्ञानिक रहस्य भरा हुआ है । परन्तु उस को समझने के लिए पहले समाधि लगाने का अभ्यास होना अनिवार्य है ।

यहाँ पर शक्तिपात में गुरु अपने शिष्यों में जिस आध्यात्मिक शक्ति का सञ्चार करता है, वह शक्ति क्या और कैसी है, उसका स्वरूप क्या है, वह कहाँ और किस प्रकार उत्पन्न होती है, शिष्य में

किस प्रकार गिरायी जाती है, वह शरीर के बाहर कैसे आती-जाती है, शिष्य के शरीर में प्रवेश कर के क्या करती है. उसका विकास शरीर और मन में किस प्रकार होता है और मनुष्य को कैसे-कैसे अनुभव होते हैं, उन अनुभवों के विकास का क्या कारण है और इन सब का अन्तिम परिणाम क्या होता ?—इत्यादि प्रश्नों पर हम इस पुस्तक में विचार करने की चेष्टा मात्र करते हैं ताकि अभ्यास करने वाले तथा अन्य विद्वानों का ध्यान इस विज्ञान की ओर आकर्षित हो।

आधिभौतिक और आध्यात्मिक विद्याओं की खोज चाहे उन के जिज्ञासुओं को एक समान आनन्द देने वाली हो और भौतिक विज्ञान की उन्नति चाहे संसार में भौतिक उन्नति को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दे, पर यह बात निश्चित् ही है कि आधिभौतिक उन्नति का दुरुपयोग भी भरपूर किया जाता है। कुछ स्वार्थी लोग अथवा जातियाँ,—जो भौतिक विद्या की उन्नति के लिए करोड़ों रुपये खर्च करके वैज्ञानिक विद्वानों को सहायता देती हैं,—उन के परिश्रम के फल का उपयोग सार्वजनिक लोक-समाज के लाभार्थ नहीं, वरन् अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए करती हैं और उन वैज्ञानिक उन्नतियों का एक दुष्परिणाम जगत् का रुद्र संहार तक हो जाता है। आधुनिक दरिद्रता और नाना प्रकार के सन्तापों का कारण भी उक्त विद्याओं का दुरुपयोग ही है।

हम ऐसे युग में से निकल रहे हैं जिस में मनुष्य अपनी त्रुटियों के कारण उक्त विद्याओं की सिद्धि कर के उन से लोक-अपकार ही अधिक करते हैं। सम्भव है कि आगे आने वाली सन्तानें अपने पूर्वजों के श्रम का लाभ उठा कर उनसे संसार का उपकार भी कर सकें, परन्तु आध्यात्मिक उन्नति में ऐसा भय होने की आशङ्का ही नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक साधनों का लक्ष्य मोक्ष है और भौतिक विज्ञान का लक्ष्य भोग ! भौतिक विज्ञान के जिज्ञासु एवं योग-साधन द्वारा सिद्धि-प्राप्त साधक दोनों की चित्तवृत्ति बहिर्मुख रहती है जिससे भौतिक विषयों में आसक्ति की वृद्धि ही होती है। जब तक ऐहिक एवं पारलौकिक सुखों से वैराग्य का उदय नहीं होता मोक्ष की बात करना व्यर्थ है। इसलिए आध्यात्मिकता के लिए निरोध-पूर्वक चित्तवृत्ति का सर्वथा अन्तर्मुखी करना अनिवार्य है। प्रत्येक बोध में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी रहती है। जब तक वास्तविक अथवा काल्पनिक किसी भी खोज के सांसारिक विषय हैं, तब तक उस ज्ञान का विषय ज्ञेयरूप से चित्त-पटल पर बहिर्वृत्ति के रूप में विद्यमान् रहता है, परन्तु ज्ञाता अपने को ज्ञेय से पृथक् समझता है। जिस समय चित्त पर से सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् ज्ञेय विषयों का अभाव हो जाता है, तब ज्ञान और ज्ञाता दो ही रह जाते हैं। परन्तु ज्ञान ज्ञाता का ही स्वभाव है, इसलिए ज्ञाता का ज्ञातृत्व भी नहीं रहता और आत्मस्थिति हो जाती है। इस अवस्था की प्राप्ति ही आध्यात्मिक विद्या का लक्ष्य कहा गया है। आत्मतत्त्व असङ्ग एवं निर्विकार है—

**नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽयमात्मा।**

यह आत्मा स्वभाव से नित्य, शुद्ध बुद्ध, मुक्त है। उसे न कभी बन्धन होता है न होना सम्भव है। फिर बन्धन किसे है ? 'जिसे बन्धन की अहं वृत्ति है' अर्थात् जो कहता है कि मैं बन्धन में हूँ, उसी को बन्धन है। इसलिए यह समझना आवश्यक है कि यह 'अहम्' अर्थात् 'मैं' का भाव है क्या ? यदि चित्त को सिनेमा के परदे से उपमित करें, तो ऐसा समझें कि आत्मा के ज्ञानात्मक चेतन प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण चित्त में

अहन्ता की वृत्ति जागृत हो जाती है। यद्यपि आत्मा अथवा उस का ज्ञान-रूपी प्रकाश जड़ चित्त नहीं बनता, न चित्त आत्मा बन सकता है, तथापि दोनों की तादात्म्यता-सी प्रतीत होने लगती है। यही जड़-चेतन की मिथ्या ग्रन्थि है—

**जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई, जदपि मृषा छूटत कठिनई।**

यह अहम् वृत्ति चित्त के फैलने से फैलती है, सिकुड़ने से सिकुड़ती है और चित्त की सीमाओं में बन्द है, जैसे सिनेमा के परदे पर प्रकाश। इसलिए आत्मा भी चित्त की उपाधियों की सीमा में बँधा-सा भासित होता है। सामान्यतया बन्धन में पड़े हुए जीव के लिए 'चित्तमात्मा' अर्थात् 'चित्त ही आत्मा है' कहना उपयुक्त है।

चित्त अणुरूप होने से आत्मा में भी अणु का आभास होता है। जब जीव शक्ति के लिए छटपटाता है, तब आध्यात्मिक साधनों की खोज में लगता है। मन्त्रों का जप, पुरुश्चरण, यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान, अष्टाङ्ग योग और हठादि योगों की क्रियाओं का अभ्यास, भक्ति-मार्ग के विभिन्न आचार्यों के बताये क्रिया-कलाप अथवा जो जैसा बताता है, उसी के अनुसार यत्न एवं तप-प्रयास-साध्य साधनों द्वारा वह आत्म-कल्याण चाहता है। यत्न-साध्य ऐसे सब प्रयत्न जो मनुष्य की अल्प बुद्धि के आधार पर आश्रित होते हैं, उन्हें आणवोपाय कहा गया है।

'दीर्घकाल नैरन्तर सत्कारा सेवितो दृढ़भूमि' होने पर जब अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोधादि से मुक्त होने पर साधक ब्रह्म-भाव को प्राप्त कर लेता है, तब वास्तविक श्रेय की प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ़ होता है। तब उस की सब जीवन-यात्रा भगवदा-श्रित स्वतःसिद्ध हो जाती है—

**अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।**
**विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।**
**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।**

—गीता, १८-५३

इस अवस्था में साधक आणवोपाय से शाम्भवोपाय में प्रवेश करता है। उसकी अहं बुद्धि चित्त की आणवी स्थिति से उठकर शाम्भवावेश में चढ़ जाती है। उक्त शाम्भवी स्थिति में पहुँचने का एक अन्य उपाय भी है जिसे शाक्तोपाय कहते हैं। ईश्वर सब के हृदय में विराजते हैं और उन के साथ ही उनकी परा शक्ति भी विराजती है—

**पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,**
**स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ।** —श्वे०, ६

उस की परा शक्ति विविध नामों से सुनी जाती है जो स्वाभाविकी है और ज्ञानवती, बलवती एवं क्रियावती है। परन्तु वह परा देवात्मिका शक्ति सर्वसाधारण में सुप्तावस्था में है, इसीलिए हृदयस्थ ईश्वर से किसी का परिचय नहीं होता। जब किसी समर्थ गुरु की कृपारूप शक्तिपात द्वारा उस शक्ति का उद्बोधन हो जाता है, तब सब साधन स्वतः होने लगते हैं और उसकी क्रियाओं में ईश्वर का परिचय होने लगता है—

**जाके हृदय नारायण प्रगटे, सो कछु कर्म करे न करे ।**
**प्रात समय रवि उदय हुआ, तब दीपक ज्योति जरे न जरे ।।**

अब आगे आध्यात्मिक विद्या के जिज्ञासुओं के लाभार्थ आध्यात्मिक उन्नति के इस मुख्य साधन 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करते हैं।

**१. अथातः शक्तिपातं व्याख्यास्यामः ।**

अब यहाँ से हम शक्तिपात की व्याख्या करेंगे ।

'अथ' शब्द का प्रयोग मङ्गलार्थ किया जाता है । जैसा कि कहा है—

**ॐकारश्चाथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।**
**कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तस्मान्माङ्गलिकावुभौ ॥**

—'ॐकार' और 'अथ' दोनों शब्द पहले ब्रह्माजी के कण्ठ को भेद कर बाहर निकले थे, इसलिए ये दोनों माङ्गलिक शब्द हैं ।'

यहाँ पर 'अथ' शब्द का प्रयोग आनन्तर्यार्थ में किया गया है । यद्यपि 'शक्तिपात' की दीक्षा ग्रहण करने के लिए किसी पूर्व साधन अथवा किसी शास्त्र के अध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है । जिस पर गुरु अनुग्रह करते हैं, उसी को इस की प्राप्ति हो सकती है, चाहे शिष्य शास्त्रों का विद्वान् हो, चाहे कुछ भी पढ़ा न हो, उस ने योगानुष्ठान किया हो अथवा न किया हो । बिना पूर्वानुष्ठित तैयारी की अपेक्षा के, गुरु के 'शक्तिपात' रूप अनुग्रह से, शिष्य की शक्ति का उद्बोधन हो जाता है ।

यहाँ 'शक्तिपात' के विज्ञान की व्याख्या करने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक भौतिक विज्ञानों के अन्वेषणों के सदृश्य पूर्वाचार्यों की अपेक्षा न रखता हो,—यह ऐसा स्वतन्त्र विज्ञान नहीं है । शक्तिपात एक साधन है जिसके द्वारा अधिकारी-शिष्य में गुरु के अनुग्रह से हठात् योग, भक्ति एवं ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान का आवेश जागृत किया जा सकता है । भगवान् महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिए आठ साधन कहे हैं और उन आठों के अन्तर्गत ही वृत्ति-निरोध के समस्त साधनों का समावेश है । तदनुसार यह साधन भी उक्त आठ साधनों के अन्तर्गत ही है, जैसा

कि आगे बताया जायेगा। इस दृष्टि से पातञ्जल दर्शन की तरह यहाँ भी 'अथ' शब्द का प्रयोग अधिकरण अर्थ में समझा जाना उचित प्रतीत होता है। परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि शक्तिपात दीक्षा का अधिकारी बनने के लिए पूर्वार्जित सत्कर्मों अथवा अन्तः-करण-शुद्धि के विभिन्न साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता है (देखें, सूत्र २, ४)।

पातञ्जल दर्शन में बताये हुए चित्तवृत्ति-निरोध के आठ उपाय ये हैं:—

(१) **अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः**—उनका निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है। इन दोनों की सर्वोपरि गणना है, क्योंकि अभ्यास के बिना कोई साधन नहीं हो सकता और अभ्यास का दृढ़ रखने के लिए सांसारिक विषयों एवं स्वर्गादि अथवा योग की सिद्धियों के प्रलोभनों से वैराग्य का धारा-प्रवाह होना सदा आवश्यक है। वैराग्य का अर्थ भोगों का त्याग नहीं है, क्योंकि सुख-दुःखों को भोगने के लिए तो जन्म होता ही है। वैराग्य से अनासक्ति का ही अर्थ ग्रहण करना चाहिए। जो मनुष्य वीतराग-द्वेष होकर संसार के सभी विषयों का धर्मयुक्त उपभोग करते हैं, वे विरक्त ही हैं।

(२) **ईश्वर प्रणिधानाद्वा**—अथवा ईश्वर-प्रणिधान से भी वृत्तियों का निरोध होता है। ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वरार्पण अथवा ईश्वर-शरणागति समझना चाहिए। पर-प्रेमरूपा भक्ति भी इसी का अङ्ग कही जा सकती है, क्योंकि समर्पण अथवा शरणा-गति में अनन्यता का भाव ओतप्रोत है।

'प्रणिधान' शब्द से एक विशेष अर्थ की भी ध्वनि निकलती है। प्र+नि+धान=प्र (प्रकर्ष), नि (निश्चयपूर्वक)। 'धा' धातु

से ल्युट् प्रत्यय द्वारा 'प्रणिधान' शब्द की व्युत्पत्ति है। 'धा' धातु का अर्थ 'धारण करना' है। ईश्वर प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करते हैं। यद्यपि वे परोक्ष रहते हैं तथापि श्रद्धावान् भक्तों के हृदय में शक्तिपात द्वारा प्रकट हो जाते हैं और प्रत्यक्ष होकर साधक को अपनी साम्यता प्रदान करते हैं।

**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।**
**तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परम साम्यतामुपैति॥**
—मुण्डक

पातञ्जल दर्शन में ईश्वर को जीवभाव से रहित, सर्वज्ञता का बीज और पूर्वजों का भी गुरुरूप पुरुषविशेष कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि मन-बुद्धि की पहुँच से भी परे इस पुरुषविशेष-रूपी गुरु का साक्षात् अपनी देह में ज्ञानमयी शक्ति में सर्वज्ञता के बीज के क्रमशः विकास द्वारा किया जाता है। इस विकास के साधन-क्रम को २, १ सूत्र में 'क्रिया-योग' की संज्ञा दी है जिस का फल क्लेशों का तनुकरण और समाधि-भावनार्थ कहा गया है। तब अविद्यादि के क्षयाभिमुख होने पर अष्टाङ्ग योग अथवा अन्य किसी परिश्रम-साध्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती।

**'समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।'**

**(३) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य**—अथवा प्राण के रेचन और विधारण द्वारा भी निरोध होता है।

**(४) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-निबन्धिनि**—अथवा मन की स्थिति को बाँधने वाली (दिव्य गन्ध, दिव्य रस, दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श और दिव्य शब्द) विषयवती प्रवृत्ति के उत्पन्न होने से भी चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, क्योंकि सांसारिक विषयों से चित्त में स्वभावतः उपरति होकर इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होने लगती हैं।

**(५) विशोका वा ज्योतिष्मती** - अथवा विशोका नाम की ज्योतियों के दर्शन होने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

**(६) वीतराग विषयं वा चित्तम्** अथवा ऐसे चित्त का आलम्बन लेने से, जो साधन-सम्पन्न होकर वीतराग हो चुका है।

यहाँ पर ऐसे गुरुजनों के चित्त का आलम्बन लेने का उपदेश किया गया है जो राग-द्वेष से मुक्त हो गये हैं। उन के चित्त का आलम्बन किस प्रकार लिया जा सकता है ? यह बात विचारणीय है। बहुतों का मत है कि उनके फोटो आदि के ध्यान अथवा स्मरण-मात्र से उनके चित्त का आलम्बन मिल जाता है। यह बात सर्वथा निर्मूल तो नहीं है, क्योंकि अनुभव से देखा गया है कि ऐसे महात्माओं के ध्यान अथवा स्मरण से लाभ होता है। परन्तु इस प्रकार हर किसी को यथेष्ट लाभ की सम्भावना नहीं है। दूसरी रीति, जिससे उनके चित्त का आलम्बन मिलता है, वह 'शक्ति-पात' है, क्योंकि शक्तिपात वीतराग गुरुओं के अनुग्रह से ही हुआ करता है। इसमें पूर्ण लाभ की प्राप्ति होती है।

**(७) स्वप्न निद्रा ज्ञानालम्बनं वा** अथवा स्वप्न और निद्रा के (अथवा स्वप्न और निद्रा में आये हुए) ज्ञान का आलम्बन लेने से भी वृत्तियों का निरोध होता है।

स्वप्न और निद्रा के ज्ञान में एक विशेषता यह है कि तब जाग्रतावस्था का देहाभिमान नहीं रहता। स्वप्न में तो उसके स्थान पर काल्पनिक देहाभिमान खड़ा हो जाता है। इसलिए जागृति में स्वप्न की सी अवस्था लाने से देहाध्यास पर नियन्त्रण पाया जा सकता है। दोनों अवस्थाओं में जागृत की इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, स्मृति सब अपने-अपने कारणों में विलीन होते हैं। सुषुप्ति में केवल प्राण कार्य करता है। स्वप्न में संस्काराशय के संस्कार उदयास्त होते रहते हैं। सुषुप्ति को प्रकृति की अव्यक्त दशा

एवं कारण शरीर समझना चाहिए जिसमें तीनों गुणों की साम्या-वस्था रहती है और अविद्या के वशीभूत जीव अपने स्वरूप में स्थित नहीं होता। सुषुप्ति को भी चित्त की एक वृत्ति कहा गया है। चित्त से तादात्म्य मानने के कारण, अन्य वृत्तियों के सदृश्य, उसकी इस वृत्ति से भी आत्मा बन्धन में रहता है। इसलिए सुषुप्ति का भी निरोध होने पर समाधि में दृष्टा की स्वरूप-स्थिति कही गयी है।

**(८) यथाभिमद्ध्यान** द्वा अथवा जैसा भी ध्यान किसी को अच्छा लगे, उसी ध्यान से वृत्तियों का निरोध होता है।

हर एक प्रकार के साधन में चित्त की प्रसन्नता अति आवश्यक है। इसलिए चित्त को सदा प्रसन्न रखने का उपाय और उपदेश भी साथ-साथ दिया गया है कि सुखी को देखकर मित्रता, दुखी को देख कर दया, पुण्यात्मा को देख कर प्रसन्नता और पापी को देखकर उपेक्षा का भाव लाने से चित्त में आध्यात्मिक प्रसाद आता है।

यद्यपि शक्तिपात द्वारा उपरोक्त सभी साधन स्वयं होते हैं, परन्तु इस विज्ञान का सम्बन्ध विशेष रूप से 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' से ही है।

शक्तिपात द्वारा योग एवं भक्ति के ही दिव्यावेश जागृत नहीं होते, वरन् ब्रह्मैक्य ज्ञान भी शक्तिपात दीक्षा द्वारा ही होता है, अन्यथा नहीं। जसा कि कहा है—

**तत्त्व ज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा।**
**ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्व गोचरम्॥**
**तच्च देव प्रसादेन गुरोः साक्षान्निरीक्षणात्।**
**जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम्॥**

—ब्रह्मणिका

—'माया का बाध तत्त्व-ज्ञान से होता है,—अन्य कर्म से नहीं। जो वेदान्त-वाक्यों द्वारा ब्रह्म और जीव के एकत्त्व की अनुभूति कराता है, वह ज्ञान ईश्वर के प्रसाद और गुरु के साक्षात् निरीक्षण से अधिकारियों में महा वाक्य के उपदेश द्वारा शक्तिपात करने से उदय होता है।

जिस शक्ति का उल्लेख प्रथम सूत्र में किया गया है, वह कैसी है ? प्रकृति से उत्पन्न होने वाली विद्युदादि के सदृश्य है अथवा भिन्न प्रकार की है ? इस शङ्का का उत्तर नीचे दिया जाता है।

## २. शक्तिर्ह्यात्मनः श्रुतेः।

वह शक्ति आत्मा से ही है, श्रुति का प्रमाण है। वेदों में इस शक्ति का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। यहाँ पर हम अथर्व संहिता के एकादश काण्ड में आठवें सूक्त के १६, १७वें मन्त्रों में स्पष्ट रूप से दिये हुए वर्णन का उल्लेख करते हैं—

**यत्तच्छरीरे मशयत् सन्धया संहितम् महत्।**
**येनेदमद्य रोचेत को अस्मिन् वर्णमाभरत्॥**
**सर्वे देवा उपाशिक्षन् तद जानाद् वधूः सती।**
**ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमाभरत्॥**

—'यह बड़ा शरीर 'सन्धा' (जोड़ने वाली) नाम की शक्ति से जुड़ा हुआ भी निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। 'जिसके कारण यह अब अच्छा लगता है, वह कौन है, जिसने इस में प्रकाश का आभरण किया है ?'—देवताओं ने यह सब जानने की प्रार्थना की। तब उस धारण करने वाली वधू सती ने बताया कि परमेश्वर की ईश्वरी (शक्ति), जो उसकी जाया (पत्नी) है, उसने इस शरीर में वर्ण अर्थात् चेतना रूप प्रकाश का आभरण किया है।

शक्ति दो प्रकार से उत्पन्न होती हुई देखी जाती है—(१) यन्त्रों द्वारा, जैसे भाप के दबाव से बनायी हुई रेलवे एञ्जिन आदि की अथवा बैटरी या डायनुमो जैसे यन्त्रों से उत्पन्न की हुई विद्युदादि की शक्ति, (२) मनुष्यों अथवा पशुओं के शरीर के बल से उत्पन्न हुई शक्ति। जो कार्य यन्त्रों द्वारा किया जाता है, वह छोटे पैमाने पर बैल, भैंस, घोड़े आदि पशुओं अथवा मनुष्य के शारीरिक बल से भी किया जा सकता है और दोनों का कार्य एक सदृश्य ही प्रतीत होता है। क्या शक्तिपात में उल्लिखित शक्ति भी इसी प्रकार की शक्ति है? यद्यपि मनुष्य और पशुओं के शारीरिक बल से उत्पन्न शक्ति वास्तव में आत्मा से ही उदित है अथवा आत्मा ही उसका कारण है, परन्तु उसका कार्य अचेतन यन्त्रों से उत्पन्न शक्तियों के समान ही जड़वत् होता है, इसलिए दोनों में कोई भेद नहीं दीख पड़ता। दोनों अचेतनवत् कार्य करती हैं। इस शङ्का का समाधान आगे किया जाता है।

## ३. चितिर्वा।

अथवा वह चिति शक्ति ही है।

चिति का तात्पर्य यह है कि चिति शक्ति चेतन शक्ति है, अचेतन नहीं है।

ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द (सच्चिदानन्द) स्वरूप है। पञ्च-भौतिक जड़ अचेतन तत्त्वों में सत् शक्ति की और अन्तःकरण चतुष्टय एवं इन्द्रियादि चेतन तत्त्वों में चित् की प्रधानता होती है। चित् शक्ति को चिति भी कहते हैं। सच्चित् शक्ति का स्थूल आणविक रूप चित्त कहलाता है, उस पर पड़ा आत्मा का प्रकाश चेतना कहलाता है। सच्चित् शक्ति को ही प्रकृति भी कहा गया है। प्रकृति के ३ गुणों में तमोगुण सत् शक्ति और सत्त्वगुण चित्

शक्ति प्रधान है। रजोगुण क्रिया रूप होने से दोनों ओर कार्य करता है।

**४. ज्ञानवती च।**

और ज्ञानवती भी है।

**५. प्राणोवा श्रुतेः।**

अथवा उसको प्राण भी कहते हैं, श्रुति का प्रमाण है।

वेदों ने संहिताओं; ब्राह्मणों और उपनिषदों में सर्वत्र प्राणों की उपासना करने का विधान किया है और प्राण के स्वरूप, स्थान और उद्गम का भी बार-बार वर्णन किया है। वेदोक्त प्राण श्वास और प्रश्वास से भिन्न कोई अन्य पदार्थ है। वह आत्मा से ही उत्पन्न होने पर भी आत्मा या ब्रह्म के ही व्यक्त स्वरूप शक्ति का रूप धारण किये हुए है, जैसा कि नीचे दी हुई श्रुतियों से स्पष्ट है। आत्मा अविकारी एवं अपरिणामी है, उस से उद्भूत शक्ति ही परिणत होकर जगत् का रूप धारण किये हुए है। शक्ति के सहयोग से आत्मा की व्यवतता कही जाती है।

**आत्मनः एष प्राणो जायते, मनोधिकृतेनाऽऽयात्यस्मिन् शरीरे।** —प्रश्न० ३, ३

—'आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है, मन के सहारे यह शरीर में आता है।'

**एतस्मात् जायते प्राणः** —मुण्डक २, १, ३

—'प्राण ब्रह्म से उत्पन्न होता है।'

**सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशंति प्राणम् म्युज्जिहते।** —छां० १, ११, ५

—'निश्चयपूर्वक यह सब सृष्टि प्राण में ही लय होती है और प्राण से ही उत्पन्न होती है।'

**या प्राणेन संभवत्यदिति देवतामयी,**
**गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत्।**

—कठ० ४,७

—'देवतामयी जो 'अदिति' शक्ति प्राण के द्वारा उत्पन्न होती है, हृदयाकाश रूपी गुहा में प्रवेश करके वहाँ ठहरी हुई भूतों के द्वारा व्यक्त होती है, निश्चय से यह ब्रह्म ही है।'

**प्राणबन्धनं हि सौम्य मनः।** —छा० ६, ८, २

—'हे सौम्य! निश्चय से मन प्राण के बन्धन में है।'

**स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः।**

—कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषत् ३, ८

—'वह आनन्द स्वरूप, अजर, अमर, प्रज्ञात्मा यह प्राण ही है।'

ब्रह्म सूत्रों में 'अतएव प्राणः' १।१।२३ सूत्र द्वारा कहा है कि यह प्राण श्वास-प्रश्वास-गति-स्वरूप वायु नहीं है, किन्तु ब्रह्म ही है।

आत्मा का अर्थ शुद्ध स्वरूप आत्मा अथवा ब्रह्म ही समझना चाहिए। पिण्ड में शुद्ध आत्मा और ब्रह्माण्ड में ब्रह्म अथवा दोनों जगह ब्रह्म ही कह सकते हैं। जो लोग जीव-ब्रह्म की एकता नहीं मानते, उन्हें आत्मा का अर्थ बन्धन में पड़ा हुआ अहङ्कारादि उपाधियों से युक्त जीव नहीं, वरन् अन्तर्यामी परमात्मा ही समझना चाहिए, क्योंकि परमात्म शक्ति ही मोक्ष-साधन करा सकती है।

शक्ति न तो शक्तिमान् से भिन्न है और न ही उससे पृथक् अन्य वस्तु है। हम शक्ति के भौतिक और चेतन दो रूप देखते हैं।

प्रकृति के सब कार्यों को चलाने के लिए अनन्त शक्ति-भण्डार प्रकृति में दीख पड़ता है। पृथ्वी, जल, वायु और आकाश के अणु-अणु में इतनी शक्ति भरी हुई है कि आधुनिक वैज्ञानिकों की बुद्धि उसका परिमाण आँकने में अभी तक असमर्थ ही रही है। प्रकृति के साधारण से कार्यों में अनन्त शक्ति का उत्पन्न और लय होना देखा जाता है। साधारण-सी बादल की गर्जना में इतनी विद्युच्छक्ति उत्पन्न होकर लय हो जाती है जितनी कि बड़े-बड़े विद्युत्-यन्त्रालय उत्पन्न भी नहीं कर सकते। आणविक अस्त्रों का विस्फोट इसका प्रमाण है। ऐसा ही हाल चेतन शक्ति का भी है। हाथी, सिंह आदि पशुओं द्वारा कितनी शक्ति व्यय होती रहती है!

दोनों प्रकार की चेतन-अचेतन शक्तियों का शक्तिमान् कौन है? हम यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हैं तो यह मानना भी अनुचित नहीं है कि जड़-चेतनमय जगत् में जो कुछ व्यापार घटित होते हैं, वे सब उस शक्तिमान् की शक्ति के ही कार्य हैं। यदि ऐसा माना जाय तो क्या प्रकृति की सञ्चालक इन शक्तियों को ही शक्तिमान् समझ लिया जाय अथवा शक्तिमान् शक्ति से भिन्न ही है? इस का उत्तर समझाने के लिए हम एक दृष्टान्त देकर विचार करते हैं।

थोड़ी देर के लिए यह मान लें कि मनुष्य की शक्ति सर्वशक्तिमान् से भिन्न शरीरस्थ आत्मा की ही शक्ति है। हम देखते हैं कि मनुष्य की शक्ति बाल, युवा, वृद्ध, स्वस्थ, रुग्ण अवस्थाओं के भेद से न्यूनाधिक होती रहती है। क्या इस शक्ति को उत्पन्न करने वाला आत्मा कभी कम और कभी अधिक शक्ति वाला हो जाता है? फिर, वही आत्मा जन्मान्तर के कीट आदि के शरीरों को त्याग कर ही पशु और मनुष्यादि शरीरों को धारण करता है। तो क्या आत्मा की शक्ति में परिवर्तन हो जाता है? यदि ऐसा माना जाय

तब तो आत्मा विकारी और प्रयत्नशील मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इसलिए यह सिद्ध होता है कि आत्मा, जो स्वयं असङ्ग है, शरीर, मन, बुद्धि और अहङ्कार की उपाधि के कारण न्यूनाधिक शक्ति वाला प्रतीत होता है। बालक के शरीर में कम बल होता है, युवा अवस्था में अधिक। इसका कारण आत्मा का विकार नहीं है, वरन् शरीर रूपी उपाधि का विकार है। मनुष्य अपने बल का अनुमान नहीं कर सकता और साहस, धैर्य एवं विश्वास से अपने बल की वृद्धि कर लेता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आत्मा निर्विकार होते हुए भी अहङ्कार के माध्यम से शरीरादि उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता प्रकट करता रहता है। वास्तव में आत्मा अनन्त शक्तिमान् होते हुए भी निष्क्रिय रहता है और उसकी शक्ति उसमें सदा एक समान अव्यक्त रहती है, परन्तु उसके प्रकाश के कारण शरीरादि उपाधियों में शक्ति की व्यक्तता होती रहती है।

आत्मा एक चुम्बक पत्थर (Magnet) के सदृश्य है जिसके प्रभाव-क्षेत्र (Magnet field) में लोहे के टुकड़े उसी की शक्ति को व्यक्त करते रहते हैं। परन्तु अपने प्रभाव-क्षेत्र में अव्यक्त रूप और लोहे के टुकड़ों में व्यक्त रूप में नृत्य करने वाली शक्ति तो एक ही है। इसी प्रकार सर्वशक्तिमान् ब्रह्म और प्रकृति की समस्त जड़ चेतनमय शक्तियों को समझना चाहिए।

सांख्य के मतानुसार प्रकृति के पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, ५ तन्मात्राएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन अहङ्कार, महत्तत्त्व और अव्यक्त,—ये २४ तत्त्व हैं। ये सब परमात्मशक्ति के कारण ही जड़-चेतनमय शक्ति व्यक्त करते रहते हैं। प्रथम पाँच तत्त्वों में शक्ति की व्यक्तता अचेतनवत् और शेष १८ तत्त्वों में चेतनवत् है। अव्यक्त में शक्ति बीज की तरह प्रसुप्त (Potential) रहती

है। अन्य तत्त्व उसी के क्रियात्मक रूप (kinetic) हैं। अव्यक्त (potential form) प्रकृति है। महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्राएँ—ये सातों प्रकृति-विकृति-स्वरूप (partially potential and kinetic) हैं। मन, पाँच ज्ञानात्मक तथा पाँच क्रियात्मक इन्द्रियाँ और ५ महाभूत,—ये १६ विकृति स्वरूप (kinetic) हैं। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति है (neither potential nor kinetic)।

इसलिए शक्ति भी ब्रह्म ही है और उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य यही है कि वह ब्रह्म ही प्राण है। यद्यपि शरीर में प्राण के पाँच क्रियात्मक रूप,—प्राण अपान, समान, व्यान और उदान,—प्रतीत होते हैं और बाहर सूर्य-शक्ति प्राण, पृथ्वी की आकर्षण शक्ति अपान, आकाश (Ether) समान, वायु व्यान और अग्नि उदान हैं, ब्रह्म रूपी चुम्बक के चुम्बकीय-क्षेत्र को प्राण कहते हैं। वह उपाधियों के आधार पर नाना रूप से चेतन-अचेतन शक्ति की व्यवतता का कारण है। परन्तु चुम्बक और चुम्बकीय क्षेत्र स्थूल और सूक्ष्म होने के कारण अलग-अलग मालूम होते हैं। ब्रह्म तो सर्वव्यापी होने के कारण सत्-चित्-आनन्दस्वरूप चुम्बकीय क्षेत्र ही है। उसमें कभी कोई विकार नहीं होता, वह सदा अव्यक्त और प्रशान्त रहता है। वह न कभी प्रसुप्त (Potential) रूप धारण करता है और न क्रियात्मक (Kinetic)। प्रकृति उसकी माया है। जो शक्ति पाँच महाभूतों के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, उसको हम जड़ शक्ति कहते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार के माध्यम से जो शक्ति व्यक्त होती है, वह चेतन कहलाती है। परन्तु महत् तत्त्व और उससे उत्पन्न हुए अहङ्कार के माध्यम से जो शक्ति व्यक्त होती है, वही आध्यात्मिक शक्ति है, जिसका प्रयोग शक्तिपात में होता है। कहा है—

**यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।** —कठ०

अर्थात् जो कुछ यह जगत् है, वह सब ब्रह्म से निस्सृत प्राण का ही स्पन्दन मात्र है।

## ६. सैव कुण्डलिनी।

वही कुण्डलिनी है।

मनुष्यों में उक्त आध्यात्मिक शक्ति को कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी का आकार सर्पाकार माना गया है। ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला शेष भी सर्पाकार ही माना जाता है। इसलिए ब्रह्माण्ड और पिण्ड को धारण करने वाली वह शक्ति एक ही है।

**कुण्डल्येव भवेच्छक्ति स्तां तु सञ्चालयेद बुधः।**
**स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥**

—योग कुण्डल्युपनिषत्

—'कुण्डलिनी ही शक्ति है, बुद्धिमान् उसको उसके स्थान मूलाधार से भ्रू मध्य तक सञ्चालित करे। यही शक्ति-चालन कहलाता है।

**ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।**
**सत्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रय प्रसूतिका॥**
**महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी।**
**जीव शक्तिः कुण्डलाख्या प्राणकाराथ तेजसी॥**

—'इस शक्ति को स्वर्णवत् कान्तियुक्त, सत्व-रज-तम तीनों गुणों को उत्पन्न करने वाली, विष्णु की निर्भया शक्ति जानना चाहिए। यह परब्रह्म स्वरूपिणी शक्ति महाकुण्डलिनी भी कही जाती है। यही जीवरूपिणी शक्ति है। वह कुण्डलों वाली, प्राणाकार और तेजमयी है।

यन्त्रों द्वारा उत्पन्न शक्ति कार्य करके समाप्त हो जाती है, परन्तु अनन्त शक्ति सान्त नहीं हो सकती। वह अनन्त कार्य करके भी अनन्त ही बची रहती है। उस बची हुई शक्ति को पुराणों में समष्टि का आधार 'शेष' एवं अथर्व वेद में 'उच्छिष्ट (उत्+शिष्ट) ब्रह्म' कहा गया है। व्यष्टि रूप में प्राणियों के शरीरों की रचना के पश्चात् उच्छिष्ट शक्ति शरीराधार रूपा कुण्डलिनी कही जाती है। दोनों को सर्पाकार माना गया है। कुण्डलिनी का अर्थ भी 'कुण्डल डाले सर्पिणी' ही है।

शक्तिपात द्वारा शक्ति-चालन उसी क्षण होने लगता है। प्रथम सूत्र में शक्तिपात' शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि केवल 'शक्ति' का अर्थात् यहाँ पर शक्ति' के विज्ञान की व्याख्या नहीं, वरन् उसके 'पात' की व्याख्या किये जाने की प्रतिज्ञा है। इसलिए यह शङ्का होती है कि शक्ति का पात किस पर होता है? उत्तर अगले सूत्र में है—

## ७. तत्पातः शिष्येषु।

उस शक्ति का पात शिष्यों में होता है।

सूत्र में शिष्य कहने से स्पष्ट है कि गुरुजन अपने शिष्य में आध्यात्मिक शक्ति का पात करते हैं। गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इस बात का द्योतक है कि गुरु अपनी विद्या से शिष्य की उन्नति करना चाहता है। इसलिए इस सूत्र से यह भाव भी स्पष्ट निकलता है कि शक्तिपात शिष्यों के कल्याण के लिए ही किया जाता है। जैसे लौकिक गुरु शिष्यों की मानसिक उन्नति के लिए विद्या पढ़ाता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक उन्नति के लिए शक्तिपात किया जाता है।

## ८. ततः शक्त्युद्बोधनम् ।

इससे शक्ति का उद्बोधन होता है ।

अर्थात् गुरु द्वारा शक्तिपात होने से शिष्य की शक्ति जाग उठती है । इसका अभिप्राय यह है कि हर एक मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति सोयी हुई है । जगाने पर उसके स्वरूप का अनुभव होने लगता है । शिष्य की शक्ति को जगा देने का ही नाम 'शक्तिपात' है, जैसा कि 'शक्तिरहस्य में कहा है—

**व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथं ?**
**ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगतस्य च ॥**
**सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिववत् स्थिता ।**
**किन्त्वियं मलकर्मादि पाशबद्धेषु संवृता ।**
**पक्वदोषेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ॥**

—'वह परमा शक्ति सर्वव्यापिनी है । तब उसे 'पतिता' अर्थात् 'गिरती है'—ऐसा क्यों कहते हैं ? एकदेशीय, मूर्तिमान्, जो सर्वव्यापक नहीं है,—उसी की ऊपर से नीचे गिरने की गति को 'पात' कह सकते हैं । सत्य ही वह सर्वव्यापिनी है और स्वभाव से शिववत् स्थित है, किन्तु कर्मों के मल के पाश से आवृत रहती है । जब दोषों के पक जाने पर वह अच्छी तरह व्यक्त हो जाती है, तब उसे पतिता' (शक्तिपात) कहते हैं ।'

## ९. प्राणोत्थानं वा ।

अथवा यों कहें कि प्राण का उत्थान हो जाता है । प्राण शक्ति, जो मनुष्य के मन, बुद्धि, इन्द्रियों और शरीर को धारण किये हुए है,—वह शक्ति के जागने पर ऊर्ध्वगामी होने लगती है ।

**१०. ततो महायोगसिद्धिः ।**

उस (शक्ति के जागने) से महायोग की सिद्धि होती है।

**११. योगः समाधिरिति भगवान् वेदव्यासः ।**

'योग समाधि ही है'—ऐसा भगवान् वेदव्यास ने कहा है।

समाधि दो प्रकार की होती है – संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात। जिसमें प्रज्ञा बनी रहे, वह समाधि 'संप्रज्ञात' और जब प्रज्ञा का सर्वथा निरोध हो जाय, तब असंप्रज्ञात समाधि कहलाती है। 'संप्रज्ञात' को 'सबीज' और 'असंप्रज्ञात' को 'निर्बीज' समाधि भी कहते हैं। संप्रज्ञात के ६ अवान्तर भेद हैं,—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्द और सास्मिता।

**१२. चित्तवृत्तिनिरोधः इति भगवान् पतञ्जलिः ।**

'चित्त की वृत्ति के निरोध को योग कहते हैं'—ऐसा भगवान् पतञ्जलि का मत है।

पातञ्जल योगदर्शन का सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' —अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं।

उक्त सूत्र में निरोध के पहले कोई विशेषण नहीं लगाया गया कि कैसे, कितने निरोध को योग कहते हैं? इसलिए थोड़े निरोध को भी योग कह सकते हैं और सर्वथा निरोध को भी योग कहते हैं। उन्होंने योगानुष्ठान के आठ अङ्ग बताये हैं,— यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इसका अर्थ यह है कि वृत्तियों का निरोध थोड़ा-बहुत तो 'यम' से ही होने लगता है और सर्वथा निरोध निर्बीज समाधि में होता है। चित्त,—तमस् Inertia, रजस् motion

और सत्व light,—इन तीनों गुणों से युक्त रहता है। इनमें से कोई एक प्रधान रूप से और शेष दोनों उस से दबे हुए रहा करते हैं। तमोगुण से मूढ़, रजोगुण से क्षिप्त, रज-सत्व से विक्षिप्त, सत्व से एकाग्र और तीनों के न्यूनाधिक निरोध से निरुद्धावस्था की भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ आती हैं। एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योगियों को ही होती हैं, सर्वसाधारण को नहीं होतीं।

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पाँचों क्लेशों से युक्त होती हैं तथा इनसे रहित भी होती हैं। अनित्य में नित्यता की, अपवित्रता में पवित्रता की, दुःख में सुख की और अनात्म वस्तुओं में आत्मा की भावना रहना 'अविद्या' है। 'मैं हूँ'—यह भाव 'अस्मिता' कहलाता है। विषयों में आसक्ति को 'राग' और घृणा को 'द्वेष' कहते हैं। सदा जीने की इच्छा अथवा मृत्यु के भय को 'अभिनिवेश' कहते हैं। बन्धन में पड़े हुए मनुष्यों की वृत्तियाँ इन पाँचों से युक्त होती हैं और जीवन-मुक्त महात्माओं की वृत्तियाँ इन से रहित होती हैं। पाँचों प्रकार की वृत्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

(१) **प्रमाण**—यह वृत्ति तीन भेद वाली होती है,—प्रत्यक्ष प्रमाण. अनुमान प्रमाण और आगम प्रमाण। देखने, सूँघने और छूने के ज्ञान की पाँच प्रत्यक्ष वृत्तियाँ हैं। जो ज्ञान इन पाँचों प्रत्यक्ष प्रमाणों से नहीं हो सकता, उसका मन-बुद्धि द्वारा अनुमान किया जाता है। जिस बात का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से नहीं होता, वह अनुभवी मनुष्यों अथवा शास्त्रों के वाक्यों से होता है। इसको आगम प्रमाण कहते हैं।

(२) **विपर्यय**—दूसरे प्रकार की वृत्ति है जिसका स्वरूप अतद्रूप मिथ्या ज्ञान है,—जैसे रस्सी में सर्प का भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान।

(३) **विकल्प**—तीसरे प्रकार की वृत्ति है जिसमें केवल शाब्दिक ज्ञान तो होता है, परन्तु तदनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। जैसे,—'आत्मा की चेतना शक्ति'—कहने से मात्र शब्दों का ही ज्ञान होता है। वास्तव में आत्मा से भिन्न कोई चेतन शक्ति है ही नहीं, दोनों एक ही हैं, परन्तु शब्दों से दोनों के अलग-अलग होने का ज्ञान होना विकल्प मात्र है।

(४) **निद्रा**—सुषुप्ति की अवस्था भी चित्त की एक प्रकार की वृत्ति ही है जिसमें सब आलम्बनों का अभाव हो जाता है।

(५) **स्मृति**—पूर्वकाल में सुने और अनुभव किये हुए विषयों का याद आना स्मृति है।

उपरोक्त पाँच प्रकार की वृत्तियों के अन्तर्गत जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ हैं। स्वप्न में स्मृति की वृत्ति के अधीन, तमोगुण से ढकी हुई इन्द्रियों, मन और बुद्धि के संस्कार काम करने लगते हैं।

चित्त को एक जलाशय के सदृश्य मान लिया जाय जिस में आकाश, बादल, वृक्ष इत्यादि का प्रतिबिम्ब दीख रहा है। इन प्रतिबिम्बों के रहते हुए तो जलाशय की तली नहीं दीखती, परन्तु प्रतिबिम्बों के हटने पर तली दीखने लगती है अथवा जल में लहरें उठने पर तली का प्रकाश नहीं दीख सकता और लहरों के शान्त होने पर वह दीखने लगता है। ठीक इसी तरह तली रूपी आत्मा वृत्तियों के कारण नहीं जान पड़ता। वृत्तियाँ शान्त हो जाने पर आत्मा का साक्षात्कार होता है। चित्त रूपी जल में बाह्य विषयों के प्रतिबिम्ब सदा पड़ते रहते हैं अथवा स्मृति के द्वारा संकल्प-विकल्प रूपी तरंगें उठा करती हैं अथवा निद्रा के तमोगुण रूपी मिश्रण से वह गदला हो जाता है, इसलिए

आत्म-स्थिति नहीं होने पाती। जब पाँचों प्रकार की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाता है, तब आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है, अन्यथा नहीं।

आत्मदर्शन होने से वृत्तिजन्य ज्ञान का मिथ्यापन एवं आत्मज्ञान की सत्यता चित्त पर चमकने लगती है और जगत् के बन्धन का मिथ्या विपर्यय ज्ञान निवृत्त हो जाता है,—जैसे रस्सी का ज्ञान होने के पश्चात् उसमें से साँप की भ्रान्ति दूर हो जाया करती है।

'उपरोक्त वृत्तियों के निरोध में शक्तिपात किस प्रकार सहायक होता है ?'—यह प्रथम सूत्रों में बताया जा चुका है। अब नीचे यह दिखाया जायेगा कि वृत्तियों का निरोध प्राणों के वश में होने पर सुगमतापूर्वक हो जाता है। 'वृत्तियाँ प्राण के अधीन हैं', इसका क्या प्रमाण है ? इस पर कहते हैं—

**१३. प्राणस्येदं वशे सर्वमिति श्रुतेः।**

यह सब प्राण के वश में है, श्रुति का प्रमाण है।

**ॐ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।**
**यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्तसर्वं प्रतिष्ठितम् ॥**

—अथर्व वेद, प्राण सूक्त, मं० १

—'प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में हैं यह सब जो हुआ है। सब का ईश्वर, जिसमें सब कुछ प्रतिष्ठित है।'

**ॐ यात्ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि,**
**या च मनसि सतता शिवां तां कुरूमोत्क्रमीः।**
**प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्,**
**मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥**

—प्रश्नोपनिषत्, द्वितीय प्रश्न १२, १३

--जो तेरी तनू (स्वरूप) वाणी में प्रतिष्ठित है, जो श्रोत्र में, जो चक्षु में और जो मन में फैली हुई है, उसको तू हमारे लिए कल्याणस्वरूप रख,—उत्क्रमण मत कर। इस लोक में यह सब प्राण के वश में है और जो कुछ तीसरे लोक (स्वर्ग) में प्रतिष्ठित है (वह भी)। तू पुत्रों की माता के सदृश्य हमारी रक्षा कर और हम को श्री (तेज) और प्रज्ञा दे।'

**१४. उभयोः परस्परं निरोधः।**

प्राण और चित्तवृत्ति दोनों का परस्पर निरोध होता है। प्राण के निरोध से वृत्ति-निरोध और वृत्ति-निरोध से प्राण-निरोध होता है और इसी प्रकार से दोनों का निरोध बढ़ता जाता है। पहले प्राण का निरोध करना चाहिए क्योंकि स्वतन्त्र रूप से वृत्ति-निरोध दुःसाध्य है।

**१५. महान् किं ? विशेषत्वाच्छक्त्युद्बोधने तत्सिद्धेः।**

महान् क्यों है ? विशेषता के कारण, - शक्ति के उद्बोधन से उसकी सिद्धि होने से।

दशवें सूत्र में योग के पहले 'महान्' विशेषण का प्रयोग क्यों किया गया है ? क्या महायोग व्यासजी अथवा पतञ्जलि भगवान् के योग से भिन्न कोई अन्य योग है ? इस शङ्का का उत्तर इस सूत्र में दिया गया है कि योग तो चित्त-वृत्ति-निरोधरूप वही है, दूसरा नहीं हो सकता। परन्तु महान्' विशेषण का प्रयोग करने का अभिप्राय यह है कि उसकी सिद्धि शक्ति के जागने से तुरन्त होती है, अन्यथा तो श्रद्धा, वीर्य सहित यत्नपूर्वक दीर्घ काल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करने पर ही वृत्ति-निरोध की उपलब्धि कही गयी है। इसीलिए जो योग परिश्रम-साध्य है, वही गुरु-कृपा से शीघ्र प्राप्त होता है।

पातञ्जल दर्शन में दूसरे अध्याय के प्रथम सूत्रोक्त क्रिया योग से महायोग का ही अभिप्राय है। महायोग को सिद्ध याग या क्रिया-शक्ति-योग भी कहते हैं।

**१६. हठ मन्त्र लयराजयोगान्तर्भूमिकत्वाच्च श्रुतेः।**

और हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग का अन्तर्भूमिकत्व होने के कारण भी 'महान्' कहा गया है, श्रुति का प्रमाण है।

शक्ति जागने के पश्चात् अन्तर्भूमिका रूप से हठादि चारों योगों का उत्तरोत्तर स्वतःसिद्ध विकास होता है, यह भी विशेषता है। इसमें नीचे दी गयी श्रुति का प्रमाण है—

**मन्त्रो लयो हठोराजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात।**
**एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।।**

—योग शिखोपनिषत्, १३०

—'मन्त्र, लय, हठ, राजयोग क्रम से अन्तर्भूमिकाएँ हैं, इसलिए वह एक ही योग चतुर्धा होने से महायोग कहलाता है।'

**१७. आसन प्राणायाम बन्धमुद्रादयो हठः।**

आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रादि हठ योग हैं।

यहाँ पर प्राणायाम से श्वास की पूरक, रेचक, कुम्भक कियाएँ ली गयी हैं। बन्ध और मुद्राएँ बहुत हैं, उनमें १० प्रधान हैं - मूल बन्ध, उडयान बन्ध जालन्धर बन्ध महा बन्ध, महा वेध, महा मुद्रा विपरीतकरणी, बज्रौली, खेचरी और शक्ति-चालन। आसन प्रत्येक योनि के आधार पर ८४ लाख कहे हैं, परन्तु ८४ मुख्य हैं। पातञ्जल दर्शन के अनुसार 'स्थिरं सुखं आसनम्' कहा गया है, परन्तु सांख्य ने यह नियम भी नहीं माना कि स्थिरता

और सुख से ही स्थिति हो । शक्ति जागकर क्रियावती होती है, तब किसी-किसी को तो नाना प्रकार के आसन, कुम्भक और मुद्राएँ देखने में आती हैं ।

### १८. ततो नाड़ी शुद्धिः

उससे नाड़ी-शुद्धि होती है ।

नाड़ियों से वात-नाड़ियों या स्नायुओं (nerves) का अभिप्राय है। नाड़ियाँ प्राण शक्ति के प्रवाह के लिए उसी प्रकार कार्य करती हैं जैसे बिजली के प्रवाह के लिए तार। साधारण मनुष्यों की नाड़ियाँ मलाकुल होती हैं और उनमें प्राण का प्रवाह सुगम नहीं होता। हठ योग की क्रियाएँ उनके मल को निकाल देती हैं।

### १९. स्वाध्यायेश्वरप्रणिधाने मन्त्रयोगः।

स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान मन्त्रयोग है ।

पातञ्जल दर्शन में प्रणव के जप और उनके अर्थ की भावना को स्वाध्याय कहा है। स्वाध्याय में मोक्षप्रद मन्त्रों का जप और शास्त्रों का श्रवण, पठन, मनन भी लिया गया है। स्वाध्याय से योग की सिद्धि होती है, जैसा कि वेदव्यास जी ने कहा है—

**स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् ।**
**स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।**

—'स्वाध्याय से योग प्राप्त होता है, योग से स्वाध्याय का मनन करे, स्वाध्याय और योग की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित होते हैं।'

ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वर-समर्पण और ईश्वर-शरणागति है ।

'प्रनिधान्' की व्युत्पत्ति 'प्र' और 'नि' उपसर्गों से युक्त 'धा' (धारण करणे) धातु से है अर्थात् ईश्वर को अपने अन्तः में पूर्ण निश्चय सहित धारण करना चाहिए। योगदर्शन का ईश्वर गुरुरूप से प्रत्येक मनुष्य के साथ विद्यमान् है जो क्लेश-कर्म-विपाकाशयों से अस्पृष्ट, बन्धन में पड़े जीव की अपेक्षा से विशेष पुरुष कहा गया है जिसमें सर्वज्ञता का बीज निहित है। महायोग द्वारा उस बीज रूप ज्ञान को पूर्णता तक पहुँचाया जा सकता है जिस की अनुभूति को ही वास्तविक ईश्वर-प्रणिधान समझना चाहिए।

### २०. ततः समाधि सिद्धिः।

उससे समाधि की सिद्धि होती है।

**समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।** —योग दर्शन

### २१. चित्ते लीने लयः।

चित्त के लीन होने पर लय योग कहलाता है।

### २२. प्राणस्थैर्यात्तदुपलब्धिः।

प्राण शक्ति के स्थिर होने पर लय योग की प्राप्ति होती है।

### २३. षट्चक्र वेधात्।

छः चक्रों का वेध होने के कारण।

### २४. आधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूरानाहत-विशुद्धाज्ञाभिधानि चक्राणि।

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा,—चक्रों के नाम हैं।

**२५. पायूपस्थनाभिहृद्कंठ भ्रूमध्येषु तत्स्थानानि ।**

(क्रमशः) गुदा, उपस्थ, नाभि, हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य देश में उनके स्थान हैं ।

**२६. तत्तु सुषुम्नाऽधिकृतानि ।**

परन्तु चक्रों के ये स्थान सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर हैं। चक्र सुषुम्ना के अन्दर वे स्थान हैं जहाँ पर नाड़ियों के केन्द्र हैं। कण्ठ से निकलने वाली नाड़ियाँ ग्रीवा और हाथों में फैलती हैं। पृष्ठ भाग से निकलने वाली पीठ और पसलियों में फैलती है। हृदय का सम्बन्ध आज्ञा चक्र से सीधा भी है। कटि पर्व की नाड़ियाँ उदर, कमर और पैरों में अँगूठों तक चली गयी हैं। उपस्थ विभाग की मूत्राशय, वीर्याशय आदि में गयी हैं। गुदा और उपस्थ की मिलकर कुछ सीवनी, गुदा, मलाशय इत्यादि में फैलती हैं। आज्ञा चक्र' मस्तिष्क और सुषुम्ना के चित्रा विभाग की शिराओं तथा पञ्च-ज्ञानेन्द्रियों की नाड़ियों का केन्द्र है। सहस्रार से सारे शरीर की नाड़ियों का सम्बन्ध इसी प्रकार है जैसे हैड-आफिस से शाखाओं का होता है ।

**२७. मनोलयस्त्वाज्ञायाम् ।**

आज्ञा चक्र में प्राण पहुँचने पर मन का लय होता है।

**२८. सङ्कल्पविकल्पाऽभावश्च ।**

सङ्कल्प और विकल्प का अभाव होता है।

**२९. एकाग्रता च मनसः ।**

और मन की एकाग्रता होती है। अर्थात् किसी ध्येय सङ्कल्प पर भी एकाग्रता हो सकती है और सङ्कल्प-विकल्प-शून्य एकाग्रता भी होती है ।

**३०. तदुपरि राजयोगः सहस्रारे ।**

उसके ऊपर राजयोग होता है, सहस्रार में ।

आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्रार में प्राण जाने से राज योग होता है ।

**३१. तत्र ब्रह्मणि शक्तिर्लयान्निर्बीजसमाधिः प्राणलयो मनोलयश्च ।**

वहाँ पर अर्थात् सहस्रार में शक्ति के ब्रह्म में लय हो जाने से निर्बीज समाधि होती है एवं प्राण और मन दोनों का लय हो जाता है।

**३२. ततः द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति होती है ।

यह पातञ्जल दर्शन के प्रथम पाद का तीसरा सूत्र है और योग की स्थिति का वर्णन करता है । जब तक द्रष्टा की अपने स्वरूप अर्थात् परब्रह्म में स्थिति नहीं होती, तब तक वृत्तियों की सारूप्यता न्यूनाधिक बनी ही रहती है ।

कठ वल्ली की नीचे दी हुई श्रुति भी इसी पद की प्राप्ति का उपदेश कर रही है—

**यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।**
**ज्ञानामत्मनि महति नियच्छेतद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ।।**

—वल्ली ३, अ० १, मन्त्र १३

—'बुद्धिमान् मनुष्य वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लय करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को प्रथमज महत्तत्व में लीन कर दे और महत्तत्व का शान्त आत्मा (ब्रह्म) में लय कर दे ।'

शक्तिपात-क्रम में उक्त प्रक्रिया की सिद्धि सुषुम्नागत प्राणोत्थान द्वारा की जाती है ।

# द्वितीय पाद

●

**१. तदर्थगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रुतेः ।**

उसके लिए गुरु के ही पास समित्पाणि जावे, ऐसा श्रुति का उपदेश है ।

ब्रह्मज्ञान को देने वाली शक्ति के उद्‌बोधनार्थ गुरु के पास ही जावे । बिना गुरु के उसकी प्राप्ति नहीं होती, जैसा कि श्रुति का उपदेश है—

**परीक्ष्य लोकान्कर्म चितान्ब्राह्मणो**
**निर्वेदमायान्नास्त्य कृतः कृतेन ।**
**तद्विज्ञानार्थं स गुरु मेवाभिगच्छेत्**
**समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।।**

—मुण्डक १, काण्ड २, श्रुति १२

—'कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्य ग्रहण करे, क्योंकि कर्म द्वारा मोक्ष नहीं मिलता । उसे पाने के लिए हाथ में समिधा लेकर ऐसे ही गुरु के पास जावे जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो ।'

ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए विषयों से उदासीन होकर गुरु के पास जाने का उपदेश किया गया है । पूर्वकाल में सब ऋषि यज्ञ किया करते थे, इसलिए शिष्य दीक्षार्थ हाथ में समिधा लेकर गुरु के पास जाता था । आजकल यज्ञादि करने की प्रणाली न रहने से पत्र, पुष्प, फलादि ले जाने चाहिए, खाली हाथ नहीं जाना

चाहिए। समित्पाणि कहने का अर्थ यह नहीं है कि उस काल में समिधा के अतिरिक्त फल, पुष्प न ले जाते होंगे। तब समिधा ही क्यों कहा है ? इसके दो कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम तो शिष्य अपने अन्दर ज्ञानाग्नि जलाने का अभिलाषी है और अग्नि दो अरणियों से प्रकट होती है। इसलिए समिधा ले जाना उसकी ज्ञानाग्नि प्राप्त करने की इच्छा का द्योतक है। गुरु को उत्तरारणि एवं शिष्य को अधरारणि से उपमा दी जाती है, क्योंकि दोनों से ब्रह्म विद्या रूपी अग्नि* प्रकट होती है और उसका क्रम भावी सन्तानों में चलता है। दूसरा अभिप्राय यह भी दीखता है कि शिष्य गुरु की छोटी-से-छोटी अर्थात् लकड़ी काटकर लाने तक की भी सेवा करने में अपना गौरव समझता है।

**२. ब्रह्मनिष्ठो वेधकः शक्तिपातक्षमश्च गुरुः।**

गुरु ब्रह्मनिष्ठ, वेध करने वाला और 'शक्तिपात' करने में समर्थ होना चाहिए।

ब्रह्मनिष्ठ—जो यच्चित्त हो अर्थात् जिसका चित्त एकाग्र अवस्था में रहकर ब्राह्मी स्थिति में रहता हो। ब्राह्मी स्थिति का

---

*कुण्डलिनी शक्ति को भी अग्निरूपा कहा जाता है। ज्ञान एवं योग को भी अग्नि कहते हैं, यथा

**'ज्ञानाग्नि सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।' —गीता**
**'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।'**
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय २

शक्तिपात द्वारा गुरु शिष्य की कुण्डलिनी को जगाकर शिष्य में दीपकवत् योगाग्नि प्रदीप्त करता है, इसी कारण कृष्ण भगवान् के गुरुवर का नाम संदीपन ऋषि था।

वर्णन श्री भगवान् ने गीता के द्वितीय अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ अथवा समाधिस्थ की व्याख्या करते हुए किया है। जो छहों चक्रों का वेध कर सके, वही वेधक कहलाता है।

### ३. निग्रहानुग्रहक्षमश्च।

और जो निग्रह, अनुग्रह दोनों में समर्थ हो।

'शक्तिपात' करने को अनुग्रह और रोक देने को निग्रह कहते हैं। निग्रह से शिष्य के वेग को कम किया जा सकता है। गुरु के लिए अनुग्रह करने का सामर्थ्य जितना आवश्यक है, उतना ही निग्रह करने का भी है क्योंकि कभी-कभी अधिक वेग हो जाने पर उसको कम करने की भी जरूरत पड़ जाती है। ऐसा ही गुरु शिष्यों के वेग को संयम में रख सकता है।

### ४. परीक्ष्य दीक्षयेत्।

गुरु शिष्य की परीक्षा करके दीक्षा देवे।

यदि अयोग्य हो तो दीक्षा न दे, उसको योग्य बनने के लिए समय दे। समय पाकर पका हुआ फल अच्छा होता है, इसलिए शीघ्रता करना उचित नहीं है।

### ५. शक्तिपात एव दीक्षा।

शक्तिपात करना ही दीक्षा देना है।

शक्ति का प्रवाह एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य तक दो प्रकार से होता है,—स्पर्श द्वारा और बिना स्पर्श के। आगे चलकर बताया जायेगा कि शरीर के भीतर शक्ति का प्रवाह नाड़ियों के आश्रय से होता है। परन्तु जब वह शरीर के बाहर भी संक्रमित

होती है, तब उसकी गति किस तत्त्व के आश्रय होती है ? वह अग्नि-ताप के सदृश चारों ओर फैलती है अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान को धारा रूप में जाती है ? क्या उसकी गति का अनुभव हो सकता है ? यदि होता है, तो उसका स्वरूप क्या है ? इत्यादि अनेक प्रश्न यहाँ पर उत्पन्न होते हैं जो एक स्वतन्त्र विज्ञान का विषय है। इस विषय का, आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति पर अन्वेषणों के अभाव के कारण, तत्त्वतः विवेचन करना तो असम्भवप्रायः ही है, परन्तु साधन करने वाले कुछ महानुभावों के अनुभवों और अनुमानों के आधार पर उक्त प्रश्नों पर थोड़ा प्रकाश डालने की चेष्टा की जाती है।

यह बात तो अनुभूत है कि शक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवाहित होती है और मनुष्य के शरीर अथवा प्रश्वास से चारों ओर इस प्रकार फैलती है जैसे तप्त गोले से उष्णता। यह भी प्रतीत होता है कि उसकी गति का मार्ग (Medium) वायु नहीं है। सम्भव है कि आकाश तत्त्व (Ether) अथवा उससे भी सूक्ष्म अन्य कोई तत्त्व हो। हम उसे 'समष्टि-प्राण-मण्डल' कहते हैं। सांख्य की परिभाषानुसार सम्भवतः उसको मनस्सत्ता, मनस्तत्त्व (Mind Stuff) अथवा महत्तत्त्व भी कह सकते हों। कभी-कभी शक्ति की गति गोली की तरह सीधी भी होती है। किसी-किसी को शक्ति का अस्तित्व स्पर्शेन्द्रिय द्वारा होता देखा जाता है, परन्तु सूक्ष्म विषय होने के कारण अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में वह अनुभवगम्य नहीं होता। किसी-किसी अभ्यासी को विद्युत्प्रकाशवत् दृष्टिगोचर होता हुआ भी देखा गया है। यह प्रकाश नाड़ियों के अन्दर और शरीर के बाहर भी गतिमान् दीख पड़ता है।

अभ्यास करने वालों का यह भी अनुभव है कि उक्त शक्ति

बाहर बादल, अग्नि, विद्युत्, सूर्यादि अथवा केवल वायु, आकाश या अन्य किसी भी स्थान से सङ्कल्प द्वारा अपने शरीर में खींची जा सकती है। इसलिए उनका कहना है कि परमात्मा की शक्ति सब पदार्थों में भरपूर है। अन्दर की शक्ति जागने के पश्चात् योगी अपने सङ्कल्प से उसको खींच सकता है। उक्त प्रकार से खींची हुई शक्ति शरीर में प्रवेश करके चेतनवत् ही व्यवहार करती है, इसलिए वह विद्युदादि शक्तियों से भिन्न और उत्तम है।

जब शक्ति योगी की इच्छा से बाहर जाती है तो पृथ्वी पर देश-देशान्तर में कहीं भी भेजी जा सकती है। Telepathy आदि उक्त शक्ति के ही कार्य हैं।

अनुमान से कहा जा सकता है कि सम्भव है कि इस आध्यात्मिक शक्ति से विद्युदादि आधिभौतिक शक्तियाँ भी उत्पन्न की जा सकें।

आध्यात्मिक शक्ति का विचार तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है :—

१—अपने आध्यात्मिक लाभार्थ।

२—दूसरों के आध्यात्मिक लाभार्थ।

३—आधिभौतिक जगत् में भौतिक सिद्धियों के लिए प्रयोगार्थ, जिस रीति से कि उसका भौतिक शक्तियों से सम्बन्ध मालूम हो सके।

यहाँ पर उपरोक्त प्रथम दो दृष्टिकोणों से इस विषय पर किञ्चित् प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

**६. ततः शक्ति प्रदीपन दीपवत् ।**

उससे शक्ति का प्रदीपन होता है, दीपक के सदृश्य ।

जैसे एक प्रज्ज्वलित दीपक की शिखा से दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकार गुरु की शक्ति के शिष्य पर गिरने से उसकी शक्ति जाग उठती है ।

**७. ततः दिव्यज्ञानं सम्पद्यते क्षीयते च बन्धनम् ।**

उससे दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है और बन्धन का क्षय होता है ।

**८. दीप्ते ज्ञानाग्नौ मलविक्षेपाऽवरणहानिः ।**

ज्ञानाग्नि के प्रज्ज्वलित होने पर मल, विक्षेप और आवरण की हानि होती है । मल पापों को, विक्षेप चित्त की चञ्चलता को और आवरण अज्ञान के पर्दे को कहते हैं ।

**९. गुरुगृहे निवसेत्तिस्रो रात्रिः ।**

गुरु के घर पर तीन रात्रि निवास करे । यहाँ रात्रि शब्द का प्रयोग किया जाता है, न कि दिन का । इसका अभिप्राय यह है कि साधनकाल सूर्यास्त के पश्चात् और सूर्योदय से पूर्व ब्राह्म मुहुर्त्त का ही श्रेष्ठ होता है । दिन में कुण्डलिनी का उद्बोधन निषिद्ध है ।

**१०. तोषयेच्च भोजनवस्त्रदक्षिणाभिः प्रणिपातेन सेवया च ।**

और गुरु को भोजन, वस्त्र, दक्षिणा देकर, प्रणाम तथा सेवा करके सन्तुष्ट करे । श्री भगवान् ने गीता में कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

—'उस (ज्ञान) को प्रणाम करके, प्रश्न करके और सेवा करके जानो। ज्ञान का उपदेश तुमको तत्त्वदर्शी ज्ञानी देंगे।'

यहाँ पर शङ्का हो सकती है कि वीतरागविषय गुरुओं को सन्तुष्ट करने का क्या अभिप्राय है? वे तो सदा सब से ही सन्तुष्ट रहते हैं। शरीरधारी गुरु को वस्त्र, भोजन, धनादि की आवश्यकता तो होती ही है। उनके वीत-राग होने का अर्थ यही है कि वे विषयों में आसक्ति नहीं रखते और किसी से अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भी यथासम्भव याचना अथवा आज्ञा नहीं करते। परन्तु शिष्यों का तो धर्म ही है कि अपने अनुमान से उनकी आवश्यकताओं को जानकर, बिना कहे, यथाशक्ति पूरा करें। इससे वे गुरु का सन्तोष प्राप्त करेंगे।

## ११. दीक्षा त्रिविधा।

दीक्षा तीन प्रकार की है,—आणवी, शाक्ती और शाम्भवी।

## १२. दर्शनाद् भाषणात्स्पर्शाच्च।

दृष्टि के द्वारा, भाषण द्वारा और स्पर्श से।

साधारणतः शक्तिपात तीन प्रकार से किया जाता है—(१) दृष्टि से (२) मन्त्रादि देकर, और (३) हाथ से छूकर। इन तीनों क्रियाओं से शक्तिपात करने वाले की इच्छा होने पर ही शक्ति-सञ्चार होता है, इच्छा न होने पर नहीं होता। इसलिए इच्छा से ही शक्तिपात होता है, स्पर्शादि तो बाह्य साधन हैं।

**१३. मानस्यपीति केचित् ।**

दीक्षा मानसिकी भी होती है, इसलिए कुछ लोग शक्तिपात को चार प्रकार का मानते हैं ।

जैसा पहले कह आये हैं कि बिना इच्छा के तो स्पर्श, अवलोकन और भाषण से भी दीक्षा नहीं होती, तब चौथी मानसी कहने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान यह है कि मानसी दीक्षा ऐसी अवस्था में दी जाती है जब कि गुरु-शिष्य का किसी कारण से एक स्थान पर समागम न हो सकता हो । जैसे, दोनों दूरस्थ देशों में हों और शिष्य गुरु के समीप न आ सकता हो अथवा किसी कारण से गुरु शिष्य की अपने सन्मुख उपस्थिति की आवश्यकता न समझता हो, तो गुरु के सङ्कल्प से दूरस्थ शिष्य पर शक्तिपात हो सकता है ।

**१४. सा पुनरप्यधिकारि भेदतस्त्रिधा ।**

वह दीक्षा अधिकारी-भेद से फिर तीन प्रकार की है ।

**१५. मृदुमध्यतीव्रत्वात् पिपीलिकाकपिखगन्यायवत् ।**

मृदु, मध्य और तीव्र होने के कारण चींटी, बन्दर और पक्षी के न्याय के सदृश्य ।

अधिकारी के भेद से किसी में हलका वेग आता है, किसी में मध्यम और किसी में तीव्र । किसी-किसी को पूर्ण विकास होने में एक, दो, तीन दिन या और अधिक समय भी लग जाता है । किसी को प्रथम बार में ही विकास हो जाता है परन्तु धीरे-धीरे, थोड़ा-थोड़ा और किसी को उसी क्षण स्पर्श, अवलोकन अथवा मन्त्र प्राप्त होते ही वेग से विकास हो जाता है । जैसे वृक्ष पर लगे हुए फल

तक चींटी धीरे-धीरे पहुँचती है, कपि एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदता-फाँदता हुआ पहुँचता है और पक्षी उड़कर सीधा उस पर जा बैठता है।

**१६. सा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी वेधमयीति ब्रह्मा।**

ब्रह्माजी ने कहा है कि दीक्षा क्रियावती, कलावती, वर्णमयी और वेधमयी होती है। क्रियावती इसलिए कहलाती है कि उस में नाना प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। कलावती इसलिए कि उससे तत्व-शुद्धि होती है। ३६ तत्त्वों को ५ कलाओं में बाँटा गया है। ३६ तत्वों के नाम इस प्रकार हैं:—

शिव, शक्ति, सदा शिव, ईश्वर, शुद्ध विद्या, माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहङ्कार, मन, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ तन्मात्राएँ और ५ महाभूत। इनमें प्रथम दो तत्व शान्त्यातीता कला के, फिर अगले ३ तत्व शान्ति कला, ७ तत्व माया कला, २३ तत्व प्रतिष्ठा और अन्तिम पृथ्वी तत्व निवृत्ति कला के अङ्ग माने जाते हैं।

सारा विश्व नाम-रूपात्मक दृश्य है। कलावती का सम्बन्ध रूपात्मक कलाओं से और वर्णमयी का सम्बन्ध वर्णात्मक नाम अर्थात् शब्दमयी सृष्टि से समझना चाहिए। वर्णमयी में वर्ण, पद, मन्त्र, कविता इत्यादि की शक्ति उदय हो जाती है। वेधमयी इसलिए कहलाती है क्योंकि उससे षट् चक्रों का वेध होता है। उक्त चारों रूप तो किसी-किसी में ही प्रकाशित होते हैं। प्रायः किसी में एक, किसी में दो अथवा तीन ही प्रकाशित होते हैं।

अकार से हकार तक और क्ष, त्र सहित ५१ वर्ण हैं। लिङ्ग, पुरुष, वचन और काल प्रत्येक के त्रिधा होने से पद ३×३×३

×३=८१ प्रकार के होते हैं। दस इन्द्रियों और ग्यारहवें मन के विषयों से सम्बन्धित होने के कारण मन्त्र अर्थात् वाक्य ११ प्रकार के होते हैं।

### १७. शिवादेशकारिणीति शाम्भवी।

शिवजी के आदेश कराने वाली शाम्भवी कहलाती है।

श्रवण द्वारा, वचन द्वारा, लिख कर अथवा विचारों में स्पष्ट रूप से शिव जी के आदेश आने लगें तो समझना चाहिए कि दीक्षा शाम्भवी है। शिवावेश के कारण ही शाम्भवी कही जाती है।

### १८. योगोक्तक्रमतो योगदीक्षा।

योग में कहे हुए क्रम से दी हुई दीक्षा योग-दीक्षा है।

इसमें योग की क्रियाएँ प्रधान रूप से होती हैं। अन्य साधन गौण रूप से होते हैं।

### १९. सैव शाक्तेयी शक्ति ज्ञानवती वा।

वही शाक्तेयी, शाक्ती अथवा ज्ञानवती दीक्षा भी कहलाती है।

ज्ञानवती कहने के बजाय कोई-कोई ज्ञान-दीक्षा भी कहते हैं, क्योंकि शक्ति ही ज्ञान है। शाब्दिक उपदेश वास्तव में ज्ञानोपदेश नहीं है। शक्ति द्वारा ज्ञान का जो प्रकाश शिष्य में स्वयं उदित होता है, वही यथार्थ में ज्ञान का उपदेश है। यह शाम्भवी से नीचे स्तर की दीक्षा है, क्योंकि इस में शक्ति का आवेश मात्र होता है।

### २०. मन्त्रमार्गानुसारेण मान्त्री।

मन्त्र-शास्त्र के अनुसार दी गयी दीक्षा मान्त्री कहलाती है। जिन मन्त्रों से शक्ति-जागरण होता है, वे मन्त्र चेतन होते हैं।

**२२. मन्त्रार्चनाद्युपचारैराणवी ।**

मन्त्र, अर्चन आदि उपचारों की सहायता से क्रमशः उन्नति कराने वाली दीक्षा आणवी कहलाती है। शक्ति का उद्‌बोधन न होने से यत्नसाध्य जपानुष्ठानादि आणवोपाय के ही अङ्ग हैं।

**२२. षट्चक्र वेधाद्वेधमयी ।**

षट्चक्रों का वेध होने के कारण दीक्षा वेधमयी कहलाती है।

**२३. वेदान्त योग भक्ति सम्प्रदाय भेदतोऽपि बहुविधा ।**

वेदान्त, योग, भक्ति आदि सम्प्रदायों के भेद से भी बहुत प्रकार की दीक्षा होती है।

**२४. सा एकैव शक्तिमत्वात् ।**

वह बहुत प्रकार की होते हुए भी एक ही है, शक्ति का प्रबोध होने के कारण।

ब्रह्म की शक्ति तो एक ही है, इसलिए सब का फल मोक्ष ही है, यद्यपि उसका विकास नाना प्रकार से देखा और सुना जाता है।

**२५. वीतरागचित्तावलम्बनात् ।**

वीतराग चित्त का अवलम्बन होने के कारण शक्तिपात दीक्षा होती है।

**२६. सिद्धसङ्कल्पाद्वा ।**

अथवा सिद्ध सङ्कल्प होने से।

वीतराग होने से योगी सिद्ध-सङ्कल्प हो जाता है, इसलिए 'वा' का प्रयोग किया जाता है। 'गुरु की शक्ति शिष्य में जाकर उसकी आध्यात्मिक जागृति किस कारण से करती है ? उसकी वृत्तियाँ शीघ्र निरुद्ध कैसे होने लगती हैं ?' इत्यादि शङ्काओं का समाधान इन दो सूत्रों से किया गया है। प्रथम सूत्र के भाष्य में बताया जा चुका है कि वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन लेकर शक्तिपात द्वारा शक्ति-सञ्चार होने से शिष्यों को शीघ्र एकाग्रता का लाभ होता है। पातञ्जल दर्शन के 'वीतराग विषयं वा चित्तम्' सूत्र का अर्थ साधारण लोग तर्क और अनुमान के आधार पर किया करते हैं, परन्तु अच्छी तरह समझ नहीं सकते। वेदव्यास जी ने अपने भाष्य में वीतराग महात्माओं का ध्यान नहीं कहा, वरन् यह कहा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध वीतराग-चित्त के आलम्बन अर्थात् आश्रय से होता है। शक्तिपात दीक्षा में शक्ति का सञ्चार गुरु के सङ्कल्प का आश्रय लेकर होता है और उस शक्ति से शिष्य को वीतराग-चित्त का आलम्बन मिलता है। शक्तिपात दीक्षा ग्रहण करने वालों को इसका अनुभव होने से उनकी समझ में उक्त सिद्धान्त सुगमता से आ सकता है।

चित्त और शक्ति का कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यह श्रुतियों में स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है।

## २७. श्रुतेः।

श्रुति का प्रमाण है। यथा—

**तेजो ह वै उदानस्तस्मादुपशांततेजाः पुनर्भव मिंद्रियैर्मनास सम्पद्यमानैः। यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसायुक्तः सहात्मना यथा संकल्पितं लोकं नयति।**

—प्रश्न ३, मन्त्र ६, १०

—'तेज ही निश्चय से उदान है, इसलिए जिसका तेज उपशान्त हो गया है, उस तेज को पुनः उत्पन्न करने के लिए इन्द्रियों को मन में अच्छी प्रकार ले जाकर जिसने अपना चित्त एकाग्र कर लिया है, उसमें एकाग्र चित्त के द्वारा प्राण आ जाता है और प्राण तेज से युक्त होकर आत्मा के सहित मनुष्य को, वह जैसा सङ्कल्प करता है, उसी लोक को ले जाता है अर्थात् उसी प्रकार की सिद्धि देता है।

उपरोक्त श्रुतियों में 'उपशान्त तेजाः' का अर्थ यदि मृत्यु लिया जाय तो जैसा श्री शङ्कराचार्य महाराज ने कहा है, जन्मान्तर में प्राण इस जन्म के सङ्कल्पित लोक को ले जाता है। परन्तु जो क्रिया मृत्यु के समय प्रकृति के वश में होती है, वही क्रिया योगी अपनी इच्छा से जीवनकाल में करता रहता है अर्थात् इन्द्रियों को मन में लय करता है, मन को बुद्धि में, फिर बुद्धि को आत्मा में और आत्मा सहित, सुषुम्णा मार्ग से धारणा, ध्यान, समाधि कर के, यथासङ्कल्पित सिद्धि को प्राप्त करता है। जीवनकाल में 'उपशान्त तेजाः' का अर्थ ऐसे मनुष्यों के लिए किया जा सकता है जो ब्रह्मतेज से क्षीण हो गये हैं। उनके लिए उस तेज के पुनर्भव अर्थात् फिर उत्पन्न करने का साधन योग-मार्ग द्वारा इन्द्रियों का प्रत्याहार कर के चित्त की एकाग्रता करना है।

संयच्चित होने से मनुष्य में प्राण शक्ति आती है, यह बात उपरोक्त श्रुति में बतायी गयी है और सब के अनुभव की भी बात है। इसी प्रश्न की आठवीं श्रुति में आदित्य को बाह्य प्राण बताया है जिसका सम्बन्ध चाक्षुष प्राण से है। पृथ्वी की देवता रूप शक्ति बाह्य अपान है, आकाश समान, वायु व्यान और अग्नि उदान है। निरुद्ध चित्त वाले मनुष्य को उपरोक्त पाँचों प्रकार की शक्तियाँ विश्व-भण्डार से मिलने लगती हैं। जैसा कि हमने इसी पाद के

५वें सूत्र में कहा है कि योगी वायु, आकाश, सूर्य, अग्नि इन सभी से शक्ति को खींचने लगता है। प्राण शक्ति का आवाहन करने का उपाय यच्चित्तता ही है। चित्त के निरोध से प्राण शक्ति को उदान रूपी तेज से युक्त कर के योगी तेजोमय बनता है और उसी प्राण शक्ति को चाक्षुष प्राण की सहायता से दृष्टि द्वारा अथवा अग्नि स्वरूप समान शक्ति के आधार से मन्त्र द्वारा अथवा वायु रूप व्यान शक्ति के आधार से स्पर्श द्वारा शक्तिपात कर के उक्त ब्रह्मतेज (प्राण शक्ति) को दूसरों में भी उत्पन्न कर देता है। योगी के सङ्कल्प के अनुसार शिष्य में उदान सहित प्राण शक्ति का सञ्चार होता है, यह अभिप्राय भी १०वीं श्रुति के अन्तर्गत निहित है।

उपरोक्त श्रुतियों में शक्ति-सम्पादन करने का रहस्य स्पष्ट रूप से बताया गया है। जो क्षीण-तेज मनुष्य स्वयं अपनी इन्द्रियों और मन को संयम में नहीं ला सकते, उनमें शक्तिपात द्वारा गुरु की शक्ति के आलम्बन से यह कार्य सम्पादित हो जाता है। शक्तिपात के पश्चात्, अपनी शक्ति जाग उठने से, वह स्वयं भी अपनी इन्द्रियों और मन का संयम करने लगता है। प्राण से मनोनिरोध और मनोनिरोध से प्राण शक्ति का सञ्चय उत्तरोत्तर बढ़ने लगता है।

## २८. स्मृतेश्च।

और स्मृतियों का भी प्रमाण है।

पुराणों और तन्त्र-शास्त्रों में इस विज्ञान का रहस्य अधिक विस्तार से मिलता है। यथा—

शक्तिपातसमायोगादृते तत्त्वानि तत्त्वतः।
तदव्याप्तिस्तद्विशुद्धिश्च ज्ञातुमेव न शक्यते॥

—शिवपुराण, वायवीय संहिता

—'शक्तिपात के समायोग के बिना तत्वतः तत्वों का ज्ञान, आत्मा की व्यापकता और उसके शुद्ध-बुद्ध स्वरूप का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।'

### २९. तत्तुसति धर्माधर्मयोः साम्ये।

परन्तु वह शक्तिपात धर्म और अधर्म की साम्यावस्था होने पर होता है।

अर्थात् गुरुजन पापी मनुष्यों पर शक्तिपात नहीं करते और यदि करना भी चाहें तो पाप की अधिकता होने पर शक्ति का संक्रमण नहीं होता। पाप दग्ध होकर जब पाप-पुण्य की साम्यता आती है, तभी उसका विकास होता है। इसी अभिप्राय से कुष्ट, यक्ष्मा, मिरगी बवासीर, सुजाक, आतशक जैसे पापी रोगों से पीड़ित मनुष्यों को दीक्षा देने का निषेध है। अन्धे, काने, बहरे, अङ्गहीन और अधिकाङ्गियों की भी गणना इसी कोटी में की गयी है।

### ३०. यस्मिन्नपतति तद्धि न पात्रम्।

जिस मनुष्य में शक्ति नहीं गिरती, वह पात्र नहीं है।

परन्तु इस सूत्र का अर्थ यह भी नहीं है कि जिसमें शक्ति जाती है, वह दीक्षा का पात्र है ही। यह भी सम्भावना हो सकती है कि शक्ति जाने पर भी कोई-कोई दीक्षा के योग्य नहीं होते।

### ३१. वर्णानां न नियमः।

वर्णों का नियम नहीं है।

जिसको गुरु स्वीकार कर ले—वही पात्र है, वर्ण (जाति) का

नियम नहीं है। ईसाई, मुसलमान, यूरोप अथवा अन्य देशों के निवासी, सभी पात्र हो सकते हैं।

**३२. बालवृद्धस्त्रीपुमान्सः सर्वेऽधिकारिणः।**

बालक, वृद्ध, स्त्री और पुरुष सब अधिकारी हैं।

**३३. एकाकी दीक्षितैर्वा सह समभ्यसेत्।**

अकेला अथवा दीक्षितों के साथ अभ्यास करे।

**३४. शुचौ गुप्तदेशे मठे गुहायां वा।**

किसी शुद्ध गुप्त देश, बन्द कमरे, मठ अथवा गुफा में अभ्यास करे।

जन-समुदाय में सब के सामने अभ्यास करना निषिद्ध है, क्योंकि ऐसा करने से शक्ति का ह्रास होता है, साधक की उन्नति में बाधा पड़ती है और विघ्नों का भय रहता है।

**३५ तत्र स्थापयेत् कम्बलासनमजिनासनं वा।**

वहाँ पर कम्बल अथवा मृग या व्याघ्रादि के चर्म का आसन बिछावे। चटाई अथवा बिना आसन के भूमि, पत्थर या लकड़ी के आसन पर अभ्यास न करे।

# तृतीय पाद

**१. कोषेषु तद्विकासः ।**

**२. अन्नप्राणमनोविज्ञानानन्दमयाः श्रुतेः ।**

कोषों में उसका विकास होता है। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। श्रुति के अनुसार कोष पाँच हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच कोषों का वर्णन मिलता है। उन में से प्रथम चार तो कोष ही समझने चाहिए, परन्तु अन्तिम आनन्दमय तो स्वयं आत्मानन्द का ही रूप है—

**'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिण पक्षः, प्रमोदः उत्तर पक्षः, आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।'**

—'उस (आनन्दमय कोष) का सिर प्रियता है, दक्षिण पक्ष मोद, उत्तर पक्ष प्रमोद, आत्मा आनन्द और ब्रह्म उसकी पूँछ-प्रतिष्ठा है। इसलिए शक्ति का विकास प्रथम चार में तो प्रत्यक्ष प्रतीत होता ही है, परन्तु आनन्दमय में आनन्द के विकास का अर्थ विकल्प मात्र ही है। उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि आनन्द का अनुभव होना ही आनन्दमय परमात्मा का साक्षात्कार है और यही आनन्दमय का विकास है—

**'सवा एष पुरुषोऽन्नरसमयः, तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः, प्राणमयात् अन्योऽन्तर**

**आत्मा मनोमयः, मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः, विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानंदमयः।'**

—तै० २, ५

उक्त कोषों में शक्ति का विकास किस प्रकार होता है? इसके लिए नीचे कोषों का स्वरूप दिखाया जाता है।

**३. पार्थिवोऽन्नमयः।**

पार्थिव शरीर अन्न का बना हुआ है।

**४. तत्र नाड्योऽनन्ताः।**

उसमें अनन्त नाड़ियाँ हैं।

प्रश्नोपनिषद् में नाड़ियों की संख्या ७२०००००१ कही है। एक सुषुम्ना और १०० प्रधान नाड़ियाँ हैं। फिर इन प्रत्येक में से ७२००० शाखाएँ फूटती हैं। इस प्रकार अनन्त नाड़ियों से सारा शरीर व्याप्त है। अंग्रेजी में इन नाड़ियों को Nerves कहते हैं। नाड़ी-विज्ञान समझने के लिए हमारी अंग्रेजी की पुस्तक—'देवात्मशक्ति'—पढ़ें।

**५. कंदस्तन्मूलम्।**

कंद उनकी जड़ है।

कंद के अन्दर अंग्रेजी में Ganglion Impar नाम की एक ग्रन्थि बतायी जाती है। उस ग्रन्थि में से पश्चिम के विद्वानों के मत से दो नाड़ियाँ निकलती हैं जो मेरुदण्ड के बाहर उसके दक्षिण, वाम पक्ष में खड़ी हैं। उनका नाम अंग्रेजी में Sympathetic Columns रखा गया है। इन्हीं दोनों को इड़ा और

पिंगला कहते हैं। हमारे ऋषियों के मतानुसार कंद एक माँस-पेशी है जो ६ अंगुल लम्बी और ४ अंगुल घेरे वाली है। उसके केन्द्र में कुण्डलिनी शक्ति का स्थान है। वहाँ से सुषुम्ना, इड़ा और पिङ्गला तीनों का उद्गम होता है। यह स्थान गुदा के ऊपर और उपस्थ के नीचे मेरुदण्ड की अनुत्रिकास्थि के समीप है।

### ६. पायूपस्थयोर्मध्ये तत्स्थानम :

गुदा और उपस्थ दोनों के मध्यप्रांत में उस कन्द का स्थान है।

### ७. एतस्मादिडापिङ्गलासुषुम्ना उद्भूताः।

इससे इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना निकलती हैं।

पश्चिम के डाक्टरों के मत से सुषुम्ना का उससे सम्बन्ध नहीं है, परन्तु योगियों का अनुभव इसके विपरीत है।

### ८. ताभ्यः शाखा प्रतिशाखा क्रमेण सहस्रशः।

उन तीनों से शाखा-प्रतिशाखा क्रम से हजारों नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। पश्चिम के डाक्टरों के मतानुसार नाड़ियों का उद्गम-स्थान शिरःकपाल है, परन्तु योगियों का मत है कि कंद (ganglion impar) सब की जड़ है। उसमें से तीन तने (trunks) निकलते हैं जो नीचे पतले और ऊपर मोटे होते जाते हैं। उनमें से एक मेरुदण्ड के भीतर और दो बाहर खड़े हैं।

इड़ा और पिङ्गला में चौबीस-चौबीस गाँठें हैं जिनको अंग्रेजी में ganglia कहते हैं। योगशिखोपनिषद् में इनको मणि कहा

है। उक्त मणियों में से एक-एक शाखा सुषुम्ना के चित्रा विभाग में जा मिलती है। इड़ा से निकलने वाली चित्रा के वाम भाग में और पिङ्गला से निकलने वाली चित्रा के दक्षिण भाग में मिलती है। दूसरी ओर इन्हीं मणियों से अन्य शाखाएँ भी निकलती हैं। वे सब शरीर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में फैल जाती है, जैसे पीपल के पत्ते की नाड़ियाँ फैलती हैं।

उपरोक्त क्रन आधार से आज्ञा चक्र तक है। उसके ऊपर इड़ा, पिङ्गला का तो अन्त हो जाता है, परन्तु इनकी दो शाखाएँ दोनों नासापुटों तक जाती हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले चित्रान्तर्गत शिरा-समूह दक्षिण से वाम ओर और वाम से दक्षिण ओर सङ्गम (क्रौस cross ×) करके मस्तिष्क में फैल जाते हैं। जिस स्थान पर ये क्रौस करती हैं, उस स्थान को वाराणसी कहते हैं। यहाँ पर विश्वनाथ विराजते हैं। आज्ञा चक्र को प्रयाग कहते हैं।

आज्ञा चक्र से किञ्चित् ऊपर मनोमय चक्र sensory centre है, जहाँ से आँख, कान, नाक, जिह्वा, मुख, हृदय से संबंध रखने वाली नाड़ियाँ निकलती हैं। पश्चिम के विद्वानों ने इन सब को तीन श्रेणियों में विभक्त किया हुआ है—(१) cerebrial nerves अर्थात् जो सुषुम्ना के छोटे मस्तिष्क-विभाग अर्थात् कपाल-कंद से निकलती हैं, (२) spinal जो मेरु से निकल कर सारे शरीर में फैल जाती हैं, और (३) sympathetic जो इड़ा और पिङ्गला से निकलकर सब अङ्गों में फैलती हैं। इनको sympathetic इसलिए कहते हैं क्योंकि ये सुषुम्ना को सहयोग देती हैं। भारत के विद्वानों ने इन सब को सुषुम्ना की शाखाएँ ही माना है, जैसा कि निम्न श्लोक में कहा गया है—

**मध्यस्थायाः सुषुम्नायाः पर्व पंचसु संभवाः।**
**शाखोपशाखतां प्राप्ताः शिरालक्ष त्रयात्परम् ॥**

—'शरीर के मध्य में स्थित सुषुम्ना के पाँचों पर्वों से उत्पन्न होने वाली नाड़ियाँ, शाखा-उपशाखा क्रम से, तीन लाख से भी अधिक हो जाती हैं।'

पाँच पर्व ये हैं,—ग्रीवा, पृष्ठ, नाभि, कटि और आधार। अंग्रेजी में इनके नाम इस प्रकार हैं—

(1) Cervical (2) Thorscial (3) Lumber (4) Sacral (5) Coccygeal.

उपरोक्त वर्णन से यह जानना आवश्यक है कि योगियों का क्रम कंद से ऊपर मस्तिष्क तक फैलना, सीधा अथवा लोम क्रम है और पश्चिम वालों का उलटा अथवा विलोम क्रम है। शक्ति प्रसुप्त रूप से (in statical form) कंद में निवास करती है और जब वह सुषुम्ना-द्वार से सहस्रार में चढ़कर समाधि लगाती है, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत इच्छा, संज्ञान और क्रियात्मक स्वरूप क्रम संसार में डालने वाला, जन्म, मृत्यु और भोग रूपी बन्धन का कारण है।

**९. सुषुम्ना वंशस्थिता।**

**१०. तस्यामूर्धतो बज्राचित्रा विरजा क्रमेण संपुटिताः।**

सुषुम्ना पृष्ठवंश अथवा मेरुदण्ड में स्थित है और ऊपर से केन्द्र की ओर उसके भीतर तीन विभाग हैं,—बज्रा, चित्रा और विरजा। इनके अंग्रेजी नाम इस प्रकार हैं—White portion, Grey portion and Empty canal.

**११. पूर्वे द्वेबहिः।**

पहली दोनों इड़ा, पिङ्गला मेरु के बाहर हैं।

**१२. ते उत्तरस्यामर्पिते ।**

वे दोनों सुषुम्ना में समर्पित हैं।

**१३. सर्वोपरि वज्रा वज्रवद्दृढ़ा ।**

सब से ऊपर वज्र के सदृश्य दृढ़ वज्रा है।

**१४. मध्ये चित्रा चित्रवर्णा सव्याऽपसव्येड़ापिङ्गलावती ।**

मध्य में चित्रवर्णा चित्रा है जो वाम-दक्षिण भागों में इड़ा और पिङ्गला के धर्म वाली है।

चित्रा के दोनों भागों से वाम-दक्षिण ओर नाड़ियाँ निकल कर पहले तो सुषुम्ना के ऊपर ही लपेटे खाती हैं, फिर वाम भाग वाली वंश के वाम छिद्र से और दक्षिण भाग वाली दक्षिण छिद्र से बाहर निकल कर इड़ा पिङ्गला से मिलती हैं और स्वतन्त्र रूप से भी हाथों-पैरों तक फैल जाती हैं। अर्थात् इनके द्वारा सारे शरीर का मस्तिष्क से सम्बन्ध बना हुआ है।

**१५. विरजं ब्रह्मनाड़ी कमलकर्णिकावत् षट्चक्रवती च ।**

विरजा (empty canal) ही ब्रह्मनाड़ी है जो कमल के नाल के सदृश्य और छः चक्रों वाली है।

वास्तव में चक्रों का स्थान चित्रा में ही जानना चाहिए, परन्तु जब तक ये चक्र नहीं खुलते, विरजा का मार्ग साफ नहीं होता।

**१६. प्रमुखा मोक्षमार्गत्वाच्छ्रुतेः ।**

यही प्रमुख है, मोक्ष का मार्ग होने के कारण। श्रुति इसका प्रमाण है—

**'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।**
**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥'**

—कठ०, २, ६, १६

—'हृदय की सौ और एक नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा को चढ़ जाती है। उससे ऊपर जाकर अमरत्व को प्राप्त करता है और दूसरी नाड़ियों से उत्क्रमण करके विश्व में जन्म लेता है।'

यहाँ पर हृदय का अर्थ हृदयपिण्ड न लेकर हृदय की शक्ति अर्थात् प्राणशक्ति लेना चाहिए। इसलिए हृदय की नाड़ियों से अभिप्राय प्राणवाहिनी अथवा वात-नाड़ियों से है। श्रीमत् शङ्कराचार्य महाराज ने भी उक्त एक नाड़ी से सुषुम्ना नाड़ी को ही ग्रहण किया है और वह हृदय से नहीं, वरन् पृष्ठ वंश में चढ़ती है, जैसा कि निम्नोद्धृत श्लोक से स्पष्ट है—

**'गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः स देहभृत् ।**
**दीर्घास्थि देहपर्यंतं ब्रह्मनाड़ीति कथ्यते ॥'**

—योग शिखोपनिषत्, ६, ८

—'गुदा के पृष्ठ भाग में वीणादण्ड देह को धारण करता है। वह मोटी हड्डी का बना हुआ देह पर्यन्त है। उसमें ब्रह्म-नाड़ी स्थित है—ऐसा कहा जाता है।' कुछ लोगों का विचार है कि उपरोक्त कठ-वल्ली की श्रुति में हृदय शब्द आया है, इसलिए यह एक नाड़ी सुषुम्ना नहीं है, वरन् Vegus nerve है जिसको

पातञ्जल दर्शन में कूर्म नाड़ी कहा है। इस पर ध्यान करने से तो मन की स्थिरता मात्र होती है, परन्तु समाधि तो सुषुम्ना में प्राण चढ़ने से ही लगती है। क्योंकि—

**१७. अनुभवादपि योगिनाम् ।**

योगियों के अनुभव से भी वह सुषुम्ना ही है।

**१८. स्मृतेश्च ।**

स्मृतियों का भी प्रमाण है।

तंत्र शास्त्रों और पुराणों में सुषुम्ना का बहुत वर्णन मिलता है।

**१९. संज्ञान-क्रियात्मकत्वात् द्विविधा अन्या ।**

अन्य नाड़ियाँ दो प्रकार की हैं, संज्ञानात्मक और क्रियात्मक होने से।

**२०. ताभिः प्राणश्चरति ।**

उन नाड़ियों में प्राणशक्ति प्रवाहित होती है।

**२१. एष प्राणमयः ।**

यह प्राणमय कोष है।

प्राणमय कोष, अन्नमय कोष के अन्दर सूक्ष्म शक्तिमय कोष है। यह शक्ति यद्यपि स्थूल शरीर में पार्थिव तन्तुओं के जाल द्वारा उसको व्याप्त किये हुए है, तो भी उक्त तन्तु-जाल अथवा नाड़ियाँ प्राणमय कोष नहीं हैं।

## २२. हृदि स्थानं मनसः ।

हृदय में मन का स्थान है ।

कुछ पाश्चात्य रङ्ग में रंगे लोगों का मत है कि मस्तिष्क (brain) से ही सब नाड़ियों (nerves) का सम्बन्ध है, हृदय से तो रक्त-पित्त-वाहिनी (artillaries and viens) का ही सम्बन्ध है । इसलिए कठोपनिषदोक्त १०१ नाड़ियों का उद्गम-स्थान हृदय कहीं मस्तिष्क (brain) में ही होना चाहिए और उस को वे योगियों का हृदय (yogic heart) कहते हैं । यद्यपि अपने उक्त काल्पनिक हृदय की स्थिति, आकार अथवा क्रिया का तो वे कुछ पता नहीं दे पाते, परन्तु प्रमाण में योगवासिष्ठ जैसे शास्त्रों के आधार पर अपनी पुष्टि करते हैं । नारायणोपनिषद् में हृदय का स्थान नाभि से १० अंगुल ऊपर स्पष्ट बताया गया है । सब आचार्यों ने हृदय को हृदय माना है । Heart शब्द भी हृदय शब्द का ही अपभ्रंश रूप है । हृदय के अधीन ही सब नाड़ियों का संयम है । Brain के निष्क्रिय होने पर यदि हृदय कार्य करता रहे तो मृत्यु नहीं होती और हृदय की गति बन्द होने पर तुरन्त मृत्यु हो जाती है । समाधि की अवस्था में यद्यपि हृदय की गति रुक जाती है, परन्तु प्राण की क्रियाएँ भी बन्द हो जाती हैं अथवा इतनी सूक्ष्म हो जाती हैं कि बन्दप्रायः प्रतीत होती हैं । किसी योगाचार्य ने यह नहीं कहा कि जहाँ सुषुम्ना-मार्ग से प्राण सहस्रार में चढ़ जाता है, वह स्थान हृदय है ।

योगिराज श्री रमण महर्षि हृदय का स्थान दाहिनी ओर बताया करते थे, जहाँ से 'अहम्' वृत्ति का स्फुरण अनुभव में आता है । इस विषय पर हमने Anatomists से परामर्श किया ।

उनका कहना है कि हृदय का ऊपरी कोण जो nervous Control करता है, वह दक्षिण की ओर झुका हुआ है। उसे ही कूर्म नाड़ी समझना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि जब आणवोपाय द्वारा भी शाम्भवोपाय अर्थात् ब्रह्मभाव की उपलब्धि हो सकती है, तब शक्तिपात की क्या आवश्यकता है? यह कहा जा चुका है कि आणवोपाय के सब साधन परिश्रम एवं यत्नसाध्य हैं। यदि साधक गुरु के निर्देशानुसार और शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुकूल अपनी अल्प एवं अनुभवहीन बुद्धि के कारण इनका अनुष्ठान ठीक न कर सके और लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व ही पथभ्रष्ट अथवा रोगाक्रान्त हो जाय, तो उसका सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। अनेकों साधकों को देखा गया है कि दीर्घ समय तक साधनरत रहने पर भी सन्तोष-प्रद प्रगति नहीं कर पाये। शक्तिपात द्वारा शिष्य की प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्ति, जो ज्ञानमयी है, जागकर उसे सब विघ्नों से बचाती हुई अनायास पार लगा देती है। दूसरा लाभ यह भी है कि साधक को विषयों से स्वतः विरति होने लगती है जो अति दुष्कर कार्य है। कहा है कि विषयों का रस परम दर्शन के पूर्व निवृत्त नहीं होता, और--

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

—गीता २, ६०

गुरु के अनुग्रह रूप शक्तिपात द्वारा साधक की प्रसुप्त शक्ति जागने पर उस का मन बहिर्विषयों से हटकर और अपने ही अन्दर के दिव्य अनुभवों का साक्षी बनकर आत्मरत होने लगता है और तब उसे बाह्य विषय फीके लगने लगते हैं –

'योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥'

—गीता ५, २४

हमने चित्त को सिनेमा के पर्दे की उपमा दी है। यह पर्दा ऐसा विचित्र है कि स्वतः ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सब विषयों को अपने पर ही अङ्कित किया करता है, स्वतः ही बुद्धि द्वारा उनको परखा करता है, मन द्वारा उन के आधार पर अनेक विविध सङ्कल्प किया करता है और स्वतः ही उन की आसक्ति में फँस भी जाता है। शक्ति जागने के उपरान्त उसे एक अपूर्व अन्तःसुख का अनुभव होता है जिसके कारण वह बाह्य विषयानन्द से विरत होकर आत्मस्थित रहने लगता है।

'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये ।'

—बृह० ५, ६, १

## २३. तदपि प्राणाऽनुगम् ।

वह भी प्राण शक्ति के आधार पर चलता है ।

मन की गति भी प्राण के पीछे-पीछे है। कहा है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

—गीता २, ६७

—'चलती हुई इन्द्रियों के पीछे-पीछे जब मन चलता है, तब वह उस मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार हर लेता है जैसे समुद्र में नाव को वायु।' इन्द्रियाँ प्राणशक्ति का ही स्थूल कार्य हैं।

## २४. एष मनोमयः

यह मनोमय कोष कहलाता है।

मन की गति ही, जो सङ्कल्पमय है, मनोमय कोष कहलाती है। चित्त की वृत्तियों को मनोमय कोष की तरंगें समझना चाहिए। कहा है—'सङ्कल्पात्मकं मन.'।

### २५. कूर्मनाड्या तद्विज्ञानेन युक्तम ।

यह मनोमय कोष कूर्म नाड़ी के द्वारा विज्ञानमय से संयुक्त है।

कूर्म नाड़ी को अंग्रेजी में Vagus nerve कहते हैं।

### २६. मूर्ध्नि विज्ञानमयः ।

मस्तिष्क में विज्ञानमय कोष है ।

विज्ञानमय कोष के धर्म चेतना, संवित्, बुद्धि और अहंकृति हैं। अंग्रेजी में इनको Different states of conciousness के अन्तर्गत माना जाता है। विज्ञानमय कोष की तीन तह या स्तर हैं—

(१) संस्कारों का आशय Sub-conciousness, (२) स्मृति Memory or personal conciousness और (३) शुद्ध संवित् pure or impersonal conciousness.

इस जन्म अथवा पूर्वजन्म में मनुष्य ने जो-जो अच्छे या बुरे कर्म किये हैं, उनके संस्कार विज्ञानमय कोष में सदा सञ्चित रहते हैं जिसको संस्काराशय अथवा कारण शरीर कहते हैं। परन्तु उनका ज्ञान तभी होता है जब वे स्मृति-पटल पर आ जाते हैं। यही विज्ञानमय कोष का अङ्ग है। पहली संस्कारों की और दूसरी स्मृति की अवस्था है। शुद्ध संवित् में निरुपाधिक ज्ञान होता है जो शुद्ध सत्व गुण की प्रधानता से दीख पड़ता है। उसमें इन्द्रिय-ज्ञान अथवा वृत्तिज्ञान का अभाव रहता है।

### २७. संज्ञान क्रियेच्छात्मिकाशक्तिः ।

शक्ति संज्ञानात्मिका, क्रियात्मिका और इच्छात्मिका,—तीन रूप से व्यक्त होती है ।

### २८. मनोविज्ञानाभ्यामिच्छा ।

मन और विज्ञान के द्वारा इच्छा शक्ति कार्य करती है ।

### २९. ज्ञानेन्द्रियैः संज्ञाना ।

ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा संज्ञान शक्ति कार्य करती है ।

गन्ध, रस, रूप. स्पर्श और श्रवण की ५ इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इन में जो शक्ति कार्य करती है, उसको संज्ञान शक्ति कहते हैं ।

### ३०. कर्मेन्द्रियैः क्रिया ।

कर्मेन्द्रियों द्वारा क्रिया शक्ति कार्य करती है ।

बोलना. पकड़ना, चलना, मैथुन की क्रिया करना और मल-मूत्र का त्याग करना क्रिया शक्ति के कार्य हैं ।

### ३१. सर्वं प्राणे प्रतिष्ठितम् ।

उपरोक्त सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं ।

**'अराइव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्'**

—प्रश्नोपनिषत् २, ६

—'जिस प्रकार रथ के पहियों की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी तरह शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सब प्राण में प्रतिष्ठित हैं ।'

## ३२. प्राणः पञ्चविधः ।

प्राण पाँच प्रकार का है ।

## ३३. प्राणोऽपानः समानो व्यानः उदानश्च ।

प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ।

ये पाँचों एक ही शक्ति के अवान्तर भेद हैं, यद्यपि वे पाँच प्रकार से कार्य करते दृष्टिगोचर होते हैं। इसका कार्य पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है। इसीलिए उपनिषदों में इसका आधिभौतिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से वर्णन किया गया है। जैसे—

**आदित्यो हवै प्राणः ।** —प्रश्न० १, ५

—'आदित्य ही निश्चय से प्राण है।' वह एक ही पाँच रूप बनाकर सब को धारण करता है।

**तान् वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोह मापद्यथ अहमेवैतत्पञ्चधात्मान् प्रविभज्यैतद् वाणमवष्टभ्य विधारयामीति।**
—प्रश्न० २, ३

—'उन (आकाशादि पञ्चतत्व, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों मन और चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों) से सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा कि तुम इस मोह में मत पड़ो कि हम ही इस शरीर को अथवा ब्रह्माण्ड को धारण कर रहे हैं, क्योंकि मैं ही अपने आपको पाँच रूपों में विभक्त करके इस शरीर को आश्रय देकर आधिभौतिक जगत् में धारण कर रहा हूँ।'

**एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेषवायुः ।**
**एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं चयत् ॥**
—प्रश्न० २, ५

—'यही प्राण अग्नि के रूप में तपता है, यही सूर्य है, यही इन्द्र होकर बरसता है, यही वायु है, यही पृथ्वी है और यही रयि है अर्थात् यह देव सब भोग-पदार्थों के रूप में है। कहाँ तक कहें, सत्-असत् सब कुछ यही है और अमृत भी यही है।'

**आदित्यो ह वै बाह्यः····· प्राण पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यत् आकाशः स समानो वायुर्व्यानः। तेजोहवा उदानः।** — प्रश्न ३, ८६

—'आदित्य (सूर्य) बाह्य प्राण है, पृथ्वी की जो देवता रूपी शक्ति है, वह पुरुष के अपान को आश्रय देकर अन्दर फैली हुई है, आकाश समान है, वायु व्यान है और तेज ही उदान है।'

आध्यात्मिक पाँचों रूप भी उस एक ही प्राण शक्ति के अवान्तर भेद हैं, यथा—

**...एष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते।**

—प्रश्न० ३, ४

—'यह प्राण ही दूसरे प्राणों को पृथक्-पृथक् धारण करता है।'

उक्त पञ्चधा प्राण-शक्ति के भेदों से प्राणमय कोष बनता है।

### ३४. दशविध इतिकेचित्। नाग कूर्म कृकिल देवदत्त धनञ्जयाऽभिधेया अन्ये।

'प्राण दस प्रकार का है'—ऐसा भी किसी-किसी का मत है। नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनञ्जय पाँच नाम वाले अन्य पाँच हैं।

छींकने, हिचकी लेने, डकार आदि क्रियाओं में नाग काम करता है। नेत्रों के पलकों के निमेषोन्मेष में कूर्म, भूख-प्यास लगाने में

कृकिल; निद्रा लाने में देवदत्त और मृत्यु के पश्चात् भी शरीर की आकृति को बनाये रखने में धनञ्जय कार्य करता है। ये भी प्राणमय कोष के ही अन्तर्गत हैं।

**३५. चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठिते।**

चक्षु और श्रोत्र की इन्द्रियों में, मुख और नासिका के द्वारा प्राण स्वयं प्रतिष्ठित है।

**३६. अपनयतीति* अपानः।**

नीचे ले जाने वाली शक्ति का नाम अपान है।

जैसा कि कहा है—

**पायूपस्थेऽपानम्।** —प्रश्न० ३-५

—'गुदा और उपस्थ में अपान काम करता है।'

**३७. समं नयतीति समानः।**

जो समानता से सब जगह ले जाता है, वह समान वायु है।

जैसा कि श्रुति में कहा है—

**मध्येतु समानः। एषह्येतदभुक्तमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।** —प्रश्न ३, ५

---

*प्राण, अपान इत्यादि शब्दों की व्युपत्ति 'अनच्' धातु से है जिस का अर्थ जीवन धारण करना है। इसलिए पाँचों प्राणों का अर्थ अपनी-अपनी क्रिया से जीवन को धारण करना है। यदि इन में से एक की भी क्रिया विकृत हो जाती है तो वही मृत्यु का कारण बन जाता है।

—'मध्य में समान रहता है, यही खाये हुए अन्न को सारे शरीर में समान रूप से पहुँचाता है जिससे ये सात ज्वालाएँ बनती हैं,—२ कान, २ आँख, २ नासिका-रन्ध्र और १ मुख। अथवा ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि मिलकर १७ ज्वालाएँ हैं।'

### ३८. व्याप्नोतीति व्यानः।

व्यापक है, इसलिए व्यान कहते हैं।

**द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाड़ी सहस्राणि भवन्त्या-सुव्यानश्चरति।** —प्रश्न० ३, ६

—'शाखा-प्रतिशाखा रूप से बहत्तर हजार की संख्या वाली सब नाड़ियों में जो शक्ति-सञ्चार करता है, वह व्यान है।'

### ३९. ऊर्ध्वनयतीत्युदानः।

ऊपर ले जाता है, उसको उदान कहते हैं।

इसी के बल से योगी अपने वीर्य की रक्षा कर के ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उसको ऊपर खींचकर ऊर्ध्वरेता कहलाते हैं और सुषुम्णा में प्राण चढ़ाकर समाधि का अनुभव लेते हैं। मृत्यु के समय साधारण मनुष्यों के प्राण को खींचकर यही शक्ति दूसरे पुण्यापुण्य अथवा मनुष्य लोक में ले जाती है। जैसा कि श्रुति में कहा है—

**अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति,**
**पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्य लोकम्।** —प्रश्न ३-७

—'और उन सब नाड़ियों में एक नाड़ी से ऊपर की ओर जाने वाला उदान पुण्य से अच्छे लोकों को, पाप से बुरे लोकों को और दोनों से मनुष्य लोक को ले जाता है।'

उक्त श्रुति के भाष्य में श्रीमच्छङ्कराचार्य 'एक नाड़ी' का अर्थ सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा उदान का ऊपर ले जाना कहते हैं।

**४०. असङ्गो ह्ययमात्माऽऽनन्दमयः।**

आत्मा, जो असङ्ग ही है, वह स्वयं आनन्दमय है। यद्यपि आत्मा से निस्सृत् आनन्द का यह कोष तमोगुण के आवरण से आवृत है।

ब्रह्मसूत्रों में भगवान् व्यास जी ने कहा है कि आनन्दमय में 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्यार्थ में प्रयुक्त है, न कि विकारार्थ में, जैसा कि इसके विपरीत अन्न-रसमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय में 'मयट्' का प्रयोग विकारार्थ में किया गया है (विकार शब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्'--१, १, १३)। पूर्व पक्ष में शङ्का करते हैं कि विकार के लिए 'मयट्' प्रत्यान्त शब्द का प्रयोग होने से आनन्दमय ब्रह्म के लिए नहीं कहा गया, अन्नमयादि के सदृश्य आनन्द के विकार का ही कोई कोष होना चाहिए। फिर इस शङ्का का उत्तर पक्ष में समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है, यहाँ पर 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग प्राचुर्य के अर्थ में किया गया है, विकार के अर्थ में नहीं। यद्यपि आगे सिद्धान्त पक्ष में वे सिद्ध करते हैं कि आनन्दमय भी एक कोष ही है जिसको सुषुप्ति समझना चाहिए।

**४१. विकास आनन्द-घूर्णा-कम्पोद्भव-निद्रामूर्च्छात्मकः।**

विकास आनन्द, घूर्णा, कम्प का उद्भव, निद्रा और मूर्छा के रूप में होता है।

शक्तिपात होने के पश्चात् शिष्य की शक्ति जागने से उसके स्थूल-सूक्ष्म शरीरों में शक्ति का विकास होता है। जब तक पूर्ण

विकास न हो तब तक उसका गुरु के समीप रहना उचित है, इसीलिए तीन रात्रियों के नियम का विधान किया गया है। साधारणतः सब को तीन दिन में विकास हो ही जाता है। उत्तम अधिकारियों को तो तत्क्षण ही पूर्ण विकास हो जाता है; परन्तु उनको भी तीन रात्रि के नियम का पालन करना ही चाहिए।

जैसा कि ऊपर समझाया गया है, विकास प्राण शक्ति के उत्थान से होता है। इसलिए सर्वप्रथम प्राणमय कोष पर ही प्रभाव पड़ता है जिससे नशा-सा, सिर या सारे शरीर में भारीपन इत्यादि चिन्ह प्रकट होते हैं। फिर स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोष में कम्प, घूर्णा अर्थात् चुमेर होने लगती है, शरीर क्रियाएँ करने लगता है और साथ ही मन में आनन्द के स्रोत उमड़ने लगते हैं। कभी-कभी निद्रा भी आ जाती है और किसी-किसी को आनन्दयुक्त मूर्छा-सी भी होती है, परन्तु साधारणतः मूर्छा देखने में नहीं आती, मनुष्य को सब अनुभवों का ज्ञान बराबर बना रहता है। चित्त का निरोध होना मनोमय का विकास समझना चाहिए। दिव्य श्रवण, दिव्य दर्शन, दिव्य स्पर्श, दिव्य रस और दिव्य गन्ध के अनुभव विज्ञानमय कोष के विकास हैं और आनन्द के प्रादुर्भाव को आनन्दस्वरूप आत्मा का ही अनुभव समझना चाहिए।

यह कहा जा चुका है कि विकास प्राणशक्ति के उत्थान के कारण होता है। उपनिषदों में प्राणोपासना का वर्णन मिलता है और 'प्राण ब्रह्म ही है'—ऐसा कहा गया है। साधारण बोलचाल में भी प्राण शब्द का प्रयोग चेतना शक्ति के लिए ही व्यवहार में लाया जाता है। मरण के लिए प्राणान्त शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता है और प्राणी से जीवधारी का अभिप्राय होता है।

श्वास-गति को भी प्राण कहते हैं, क्योंकि श्वास-प्रश्वास पर जीवन का आधार है और उसी से सारी जीवन-कलाएँ कार्य करती

हैं। यथार्थ में प्राण वह शक्ति है जिससे सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग और नस-नाड़ियाँ निरन्तर अपना-अपना काम करती हैं। इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि भी प्राण के आधार पर स्थित हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ भी प्राण के ही आश्रित हैं। यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि सुषुप्ति में निष्क्रिय हो जाते हैं, पर प्राण तब भी अपना कार्य करते रहते हैं। श्वास-प्रश्वास को प्राण कहने का अभिप्राय यह है कि हृदय और फुप्फुस को सतत् कार्यशील रखने वाली शक्ति मुख्य प्राण है।

तीनों अवस्थाओं में प्राण-शक्ति का प्रवाह सारे शरीर की नाड़ियों में होता रहता है और उक्त नाड़ियों का पृथक्-पृथक् कार्य निश्चित् है। परन्तु प्राण-प्रवाह सदा बहिर्मुख रहता है। जब वह अन्तर्मुख होने लगता है, तब उसका प्रवाह सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ता हुआ समझना चाहिए। ब्रह्मरन्ध्र में प्राण चढ़ने से समाधि लगती है और उससे नीचे की अवस्थाओं में चित्त की एकाग्रता आती है। सुषुम्ना में समष्टि प्राण का उत्थान होने पर बाह्य क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं, यहाँ तक कि श्वास और हृदय की गति भी बन्द हो जाती है।

योग के अभ्यास से शक्ति के जागने पर नाड़ियों के मल की शुद्धि होने लगती है और वे शुद्ध होकर सुगम हो जाती हैं। तब उनमें शक्ति के प्रवाह में कोई रुकावट नहीं रहती, सङ्कल्प मात्र से विद्युत् के सदृश्य सञ्चार होने लगता है और तब सारे शरीर की नाड़ियों से खिचकर प्राण सरलता से सुषुम्ना में चढ़ने लगते हैं।

उपरोक्त प्राण-अपानादि उस एक प्राणशक्ति के ही अवान्तर भेद हैं। उसके भिन्न-भिन्न कार्य-क्रमों के अनुसार भिन्न-भिन्न नाम रख दिये गये हैं, जैसा कि ऊपर के सूत्रों से स्पष्ट है।

# चतुर्थ पाद

●

## १. कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपिणी ।

कुण्डलिनी प्रणवस्वरूपिणी है ।

**महा कुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्म स्वरूपिणी ।**
**शब्दब्रह्ममयी देवी एकाऽनेकाक्षराऽकृतिः ।।**

—योग कुण्डलिन्योपनिषत्

—'कुण्डलिनी शक्ति परब्रह्म स्वरूपिणी, महादेवी, शब्द-ब्रह्ममयी अर्थात् प्रणवस्वरूपिणी है, एक और अनेक अक्षरों के मन्त्रों की आकृति में व्यक्त होती है ।'

अ=सत्वगुण, उ=रजोगुण, म्=तनोगुण है और अर्द्धमात्रा से उत्पन्न होने वाली अनुनासिक ध्वनि आत्मा के शुद्ध स्वरूप की व्यञ्जक है जो अन्त में घण्टा-नादवत् ब्रह्म में लय हो जाती है । इन्हें ही कुण्डलिनी शक्ति के साढ़े तीन कुण्डल समझना चाहिए जो स्वयम्भू लिङ्ग पर वेष्टित हैं ।

## २. मूलाधारे प्रसुप्ता साऽत्मशक्तिः ।

वह आत्मशक्ति मूलाधार में सो रही है (Lies in the Static Form) ।

सोती हुई कुण्डलिनी को मुख में पूँछ दबाकर सुषुम्ना के द्वार को रोके हुए बताया जाता है । वास्तव में यह आध्यात्मिक शक्ति का अलंकृत भाषा में वर्णन किया गया है ।

**३. उन्निद्रिता विशुद्धे तिष्ठति मुक्तिरूपा पराशक्तिः।**

जागी हुई (When in Dynamic Form) वह मुक्ति-रूपा पराशक्ति विशुद्ध चक्र में विराजती है।

शक्ति के जागने पर तीनों गुणों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और कुण्डलिनी अपने कुण्डलों को छोड़कर सीधी सर्पाकृति हो जाती है। शक्ति का उठना और सुषुम्ना में होकर कपाल में चढ़ना योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। उसकी गति सर्पवत् प्रतीत होने के कारण उसकी उपमा सर्प से दी जाती है।

**यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।**
**ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगविधेरपि॥**

—'जब तक वह देह में सोती रहती है, तब तक मनुष्य पशुवत् व्यवहार करता है, क्योंकि तब तक करोड़ों योग-साधन करने से भी ब्रह्मज्ञान उत्पन्न नहीं होता।'

बहुत से मनुष्यों की धारणा है कि कुण्डलिनी एक नाड़ी है। वास्तव में ऐसा अनुमान होता है कि कन्द (Ganglion impar) में शक्ति प्रसुप्त रूप (Static Form) में सदा रहती है और जागने पर उस में से निकल-निकल कर (Kinetic) गति रूप में सुषुम्ना में चढ़ने लगती है। कन्द उक्त शक्ति का अनन्त भण्डार है। जागने पर उसका आध्यात्मिक चेतन स्वरूप शरीर, मन, वाणी में व्यक्त होने लगता है।

**४. योगाभ्यासात्तीव्र वैराग्याच्च।**

योग के अभ्यास और तीव्र वैराग्य से जाग जाती है।

**५. ज्ञानभक्तिभ्यां वा।**

ज्ञान और भक्ति से भी।

केवल शाब्दिक ज्ञान से नहीं जागती, इसीलिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवश्यकता है।

**६. प्राणायामाद्वा ।**

अथवा प्राणायाम करने से।

प्राणायाम अष्टाङ्ग योग का चौथा अङ्ग है, इसलिए चौथे सूत्र में योग के अभ्यास के अन्दर आ जाता है। यहाँ पर फिर प्राणायाम को एक अलग उपाय कहने का अभिप्राय यह है कि केवल प्राणायाम के अभ्यास से भी शक्ति जाग उठती है। कहा है— 'न प्राणायामात्परं तपः'—प्राणायाम से बड़ा दूसरा तप नहीं है। यहाँ पर प्राणायाम का अर्थ सहितकुम्भकों से है, जैसे भस्त्रिका, उज्जायी इत्यादि। पूरक, रेचक सहित कुम्भक को 'सहितकुम्भक' कहते हैं।

**७. शक्तिपाताद्विशेषेण ।**

शक्तिपात के द्वारा विशेषता से जाग जाती है।

शक्तिपात में विशेषता यह है कि शिष्य के प्रयास के बिना ही गुरु-कृपा से शक्ति तुरन्त जाग जाती है, नहीं तो साधक को निरन्तर दीर्घकाल तक उसके जगाने के लिए ही कष्टसाध्य यत्न करना पड़ता है और उस में भी हानि होने की सम्भावना रहती है।

**८. तत्तु गुरुकृपयैव लभ्यते ।**

परन्तु यह गुरु की कृपा के द्वारा ही होता है।

**९. ततः क्रियावती च भवति ज्ञानवत्त्वात् ।**

उस (शक्तिपात) से क्रियावती भी हो जाती है, शक्ति के ज्ञानवती होने के कारण।

कुण्डलिनी के—अविद्या और विद्या—दो रूप कहे जा सकते हैं। अविद्या अवस्था में, सोती हुई, बन्धन का कारण होती है और जागने पर विद्यावस्था धारण कर के मोक्षप्रदा होती है। जागने पर उस के तीन स्वरूप होते हैं—क्रिया-रहिता, क्रिया-शीला और लयावस्था। क्रिया-रहिता में मनुष्य की प्रवृत्ति विवेक, वैराग्य की ओर होती है परन्तु मोक्ष-साधन का प्रारम्भ नहीं होता। हाँ, शक्ति पापों का नाश करती रहती है। पापों का नाश होने पर उसकी मोक्ष-यात्रा का प्रारम्भ होता है। समाधि अथवा मोक्षावस्था में शक्ति ब्रह्म में लय हो जाती है।

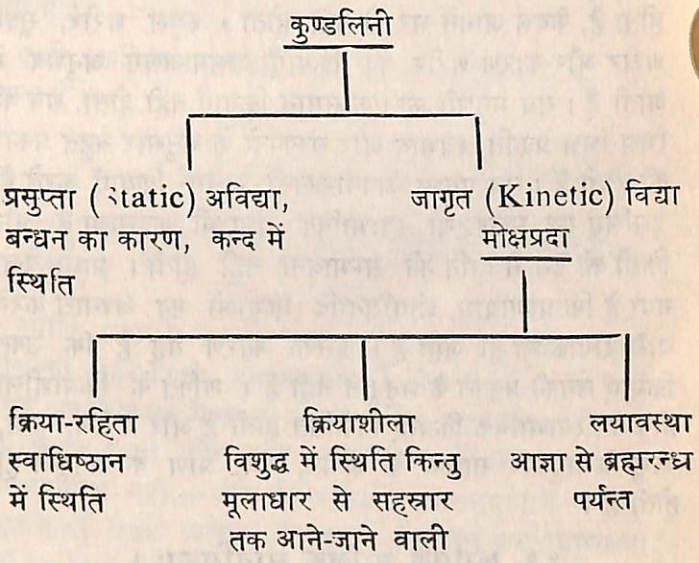


क्रियावती होने पर हठयोग के विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध मुद्राएँ, भक्ति की विभिन्न अवस्थाएँ, नृत्य, गीत, उद्गीथ,

प्रणव-ध्वनि, नाम-कीर्तन और मन्त्रयोग, ज्ञानयोग की अनेक क्रियाओं का साधक को अनुभव होता है। इन क्रियाओं का कारण शक्ति का ज्ञानवती होना है। यदि शक्ति अचेतनवत् व्यवहार करती तो उसकी क्रियाएँ ऐसी चेतना और ज्ञानयुक्त न होतीं।

**१०. क्रियाः स्थूल-लिङ्ग-कारणभेदतो बहुविधाः।**

क्रियाएँ स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के भेद से नाना प्रकार की होती हैं।

शक्ति के जागने में और क्रियाशील होने में भी अन्तर है। क्रियाशीला होने पर ही शारीरिक, मानसिक क्रियाओं का विकास होता है, केवल जागने भर से नहीं होता। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर की क्रियाएँ अलग-अलग अनुभव में आती हैं। सब मनुष्यों को एक समान क्रियाएँ नहीं होतीं, सब की भिन्न-भिन्न प्रकृति, स्वभाव और संस्कारों के अनुसार बहुत प्रकार की होती हैं। सब मनुष्य अपनी-अपनी अलग क्रियाएँ करते हैं, इसलिए यह सहज या स्वाभाविक योग भी कहलाता है और किसी को इस से हानि की सम्भावना नहीं होती। प्रायः देखा गया है कि प्राणायाम, शीर्षासनादि क्रियाओं का अभ्यास करने वाले रोगाक्रान्त हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि उक्त क्रियाएँ उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। शक्ति के क्रियाशीला होने पर स्वाभाविक क्रियाएँ विकसित होती हैं और वे देश, काल, ऋतु के अनुसार साधक के शरीर, मन, प्राण के अनुकूल ही होती हैं।

**११. कायिक वाचिक मानसिकाः।**

क्रियाएँ शारीरिक, वाचिक और मानसिक,—तीनों प्रकार की होती हैं।

**१२. ता नेच्छातन्त्राः संस्कारतंत्रत्वात् ।**

वे इच्छा की नहीं, संस्कारों की तन्त्र होने के कारण।

इच्छा चाहे गुरु की हो, चाहे शिष्य की,—क्रियाएँ किसी की इच्छा के अधीन नहीं होतीं।

**१३. शक्तितन्त्रत्वाद्वा ।**

चाहे उनको शक्ति के तन्त्र मानो।

क्योंकि शक्ति का वेग होने पर नाना प्रकार की क्रियाएँ होने लगती हैं।

दूसरे, शक्ति ज्ञानवती कही गई है, इसलिए भी वह स्वतन्त्र है।

**१४. तद्वेगस्तु न तथा ।**

परन्तु उसका वेग भी उक्त प्रकार इच्छा के तन्त्र नहीं है,—ऐसा नहीं है।

क्योंकि इच्छा से वेग को रोका जा सकता है। यदि किसी साधक को बाहर किसी जन-समुदाय में वेग आ जाय, तो वहाँ पर वह अपनी इच्छा से अपने वेग को रोक सकता है। क्रियाएँ सदा एकान्त स्थान और बन्द कमरे में करने का विधान है, जनसमुदाय में नहीं,—जैसे कि आजकल जनसमुदाय में भगवत्-कीर्तन करते समय भाव-प्रदर्शन करने और नाच कर तमाशा-सा करने का रिवाज़ कुछ महात्माओं ने चलाया है। जनसमुदाय में क्रियाएँ करने से शक्ति का अनुचित संक्रमण और ह्रास होता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है।

**१५. ततः प्राणापानयोरुत्थानम् ।**

क्रियाएँ करने से प्राण और अपान का उत्थान होने लगता है।

पहले कह आये हैं कि शक्ति के जागने से प्राणशक्ति का उत्थान होता है। यहाँ पर बताया गया है कि क्रियाएँ होने के फल-स्वरूप भी प्राण और अपान दोनों का उत्थान होता है। इसलिए जितनी अधिक देर तक अभ्यास किया जाता है और जितनी अधिक क्रियाएँ होती हैं, उतनी ही शीघ्रता से प्राण-अपान का उत्थान होकर अधिक उन्नति होती है।

**१६. सुषुम्नां व्रजति ।**

शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है।

**१७. चक्राणि भिनत्ति ।**

चक्रों का वेध करती है।

**१८. ततो नाड़ीशुद्धिः ।**

उस से नाड़ियों की शुद्धि होती है।

सुषुम्ना से सब नाड़ियों का सम्बन्ध है। वे उसमें से शाखो-पशाखा क्रम से निकलकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में फैली हैं, इसलिए शक्ति सुषुम्ना में प्रवेश करके, चक्रों का वेध करके, सारे नाड़ी-जाल में वेगपूर्वक फैल जाती है,—जैसे हौज में भरा हुआ जल नगर के प्रत्येक घर, गली और बाजार के नलों में वेग से फैल जाता है। यदि किसी नल में किसी प्रकार की रुकावट हो तो वह भी पानी के वेग से स्वयं दूर हो जाती है।

**१६. प्राणमये सञ्चालयति प्राणम् ।**

प्राणमय कोष में सर्वत्र प्राण का सञ्चालन कर देती है।

नाड़ी-शुद्धि होने पर, समस्त नाड़ी-जाल शुद्ध हो जाने के कारण, प्रत्येक शाखा-उपशाखा में सर्वत्र प्राण का वेग से सञ्चार होने लगता है और प्राणमय कोष शक्ति से आनखशिख परिपूर्ण हो जाता है। इस अवस्था का नाम घटा अवस्था है। क्रियाओं के आरम्भ होने से आरम्भ अवस्था कहलाती है। आरम्भ अवस्था में शक्ति के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और शक्ति के वेग से प्राणमय कोष के प्राण से परिपूर्ण हो जाने पर घटावस्था कहलाती है।

**२०. तदा प्राणायामसिद्धिश्च ।**

तब प्राणायाम की सिद्धि होती है।

**२१. सा चतुर्विधा ।**

वह प्राणायाम की सिद्धि चतुर्विध होती है।

**२२. प्राणस्यापानेऽपानस्य प्राणे योग उभयोर्गति-रोधश्च ।**

**२३. केवल: प्राणविलीने चतुर्थः ।**

अपान में प्राण का योग होना, प्राण में अपान का योग होना और दोनों की गति का निरोध होना। चौथा केवल प्राणायाम है जिसमें प्राण का लय हो जाता है।

जैसा कि श्री भगवान् ने गीता में अर्जुन से यज्ञों का वर्णन करते हुए कहा है—

**अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।**
**प्राणापान गतीरुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ॥**
**अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।**
**सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥**

—'कोई तो अपान में प्राण की आहुति देते हैं, दूसरे प्राण में अपान की आहुति डालते हैं, कोई प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम करते हैं और दूसरे नियमपूर्वक आहार करके प्राण की प्राण में आहुति देते हैं। ये सब ही यज्ञ के जानने वाले हैं जिन्होंने अपने पापों को यज्ञ द्वारा निकाल फेंका है।

उक्त चारों प्रकार के प्राणायामों का श्वास-प्रश्वास के पूरक, रेचक और कुम्भक प्राणायामों से अभिप्राय नहीं है, परन्तु रेचक-पूरक द्वारा इनकी सिद्धि हो सकती है और शक्ति जागने पर बिना रेचक-पूरक के भी सिद्ध होते हैं। चारों की क्रियाएँ नीचे समझायी जाती हैं। पाठकों को यह बात तो उपरोक्त श्लोकों से समझ में आ ही गयी होगी कि असली प्राणायाम प्राण और अपान के मिलने से होता है। 'ये दोनों शक्तियाँ कहाँ और किस प्रकार मिलायी जाती हैं?'—यही समझने की बात है।

अपान शक्ति का स्थान पायु तथा उपस्थ है अर्थात् अपान आधार चक्र के समीप रहता है और उसकी गति नीचे की ओर होती है। प्राण शक्ति हृदय से ऊपर के भाग में काम करती है। दोनों का योग कर के इनको सुषुम्ना-विवर में प्रविष्ट करना चाहिए। सुषुम्ना में प्रवेश करने का द्वार कुण्डलिनी के स्थान पर है जो मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच में स्थित है अर्थात् प्राण और अपान दोनों को इसी स्थान पर खींचकर मिलाना होता है जिस से दोनों मिलकर सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं। तब घटावस्था

की सिद्धि होती है और योगी के किञ्चित् प्रयत्न अथवा सङ्कल्प मात्र से जहाँ चाहे वहीं प्राण का प्रवाह सुगमता से होने लगता है।

(१) अपान शक्ति में प्राणों की आहुति देने के लिए प्राण को नीचे उतारना पड़ेगा और उसको आधार चक्र में ले जाकर अपान में मिलाना पड़ेगा। यह क्रिया पूरक और अन्दर के कुम्भक करने से भी सिद्ध होती है। श्वास को फुप्फुस Lungs में धीरे-धीरे, परन्तु दबाव के साथ खींचकर पूरक करना पड़ता है। फिर कण्ठ का सङ्कोचन कर के जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को जोर से नीचे दबाया जाता है। इस क्रिया से, कुछ अभ्यास के पश्चात्, प्राण शक्ति ऊपर के भाग की सब नाड़ियों से इड़ा-पिङ्गला नाड़ियों में खिचकर नीचे की ओर उतरने लगती है और धीरे-धीरे कन्द के पास मूलाधार चक्र में एकत्रित होती है। वहाँ पर योगी ने पहले से ही सिद्धासन अथवा गुदा का सङ्कोचन कर के मूल बन्ध द्वारा अपान शक्ति को रोका हुआ होता ही है। इस प्रकार वहाँ दोनों का योग किया जाता है। यह प्राण की अपान में आहुति हुई।

(२) फिर रेचक द्वारा धीरे-धीरे प्रश्वास को निकाला जाता है और मूलबन्ध तथा पेट को पीठ की ओर खींचकर उड्डयान बन्ध द्वारा नीचे की नाड़ियों से अपान को ऊपर खींचकर प्राण से मिलाया जाता है। इस प्रकार फिर दोनों का योग होता है। यह अपान की प्राण में आहुति देना है। उक्त प्रकार दोनों का योग कर के प्राण के सुषुम्ना में प्रवेश करने पर असली प्राणायाम की सिद्धि होती है।

(३) तदनन्तर बाह्य कुम्भक करके श्वास-प्रश्वास की गति रोक दी जाती है जिससे प्राण और अपान दोनों अपना-अपना बाह्य कार्य त्यागकर अन्तर्मुख होने लगते हैं (जैसा कि मृत्यु के पूर्व दम घुटने से होता है) और दोनों अपने-अपने स्वरूप को त्याग

कर लय होने लगते हैं। यही प्राण-अपान की गति-निरोध रूप तीसरा यज्ञ है।

(४) चौथे केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास किसी भी अवस्था में स्वयं रुकने लगते हैं और श्वास-गति का निरोध होने से प्राणशक्ति का निरोध होता है। पाँचों प्राणों का निरोध होने से शरीर का समस्त व्यापार रुककर प्राण का समष्टि उत्थान होता है और समाधि लगने लगती है। ऐसे योगी मिताहार करके दीर्घकाल तक समाधि का आनन्द लेते हैं। यही प्राणों की प्राणों में आहुति देना है। इस चौथे का तीसरे से इतना भेद है कि केवल कुम्भक में प्राण सब चक्रों में एक दम विलीन होने लगेगा। इन चारों ही रीतियों में प्राण सुषुम्ना में चढ़ता है।

शक्ति के जागकर क्रियावती होने पर चारों प्रकार के प्राणायाम बिना यत्न के अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति का आधार लिए बिना ही सिद्ध होने लगते हैं। श्रीमच्छङ्कराचार्य जी ने भी योगतारावली में केवल कुम्भक का सुन्दर वर्णन किया है जो पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत किया जाता है—

**बन्धत्र्याभ्यास विपाकजातां,**
**विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।**
**विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं,**
**विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥८**

**प्रत्याहृतः केवल कुम्भकेन,**
**प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः।**
**प्राणः प्रतीचीन पथेन मन्दं,**
**विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥१२**

—'मूल, उड्डयान और जालन्धर,—तीनों बन्धों के अभ्यास की परिपक्व अवस्था होने पर प्रकट होने वाली उस केवलकुम्भक

रूप विद्या का मैं भजन(साधन) करता हूँ जो रेचक और पूरक से वर्जित है और सब विषयों के प्रवाहों को सुखा डालती है।'

—'केवलकुम्भक के द्वारा खींचा हुआ प्राण,—जो जागी हुई कुण्डलिनी के भोजनोपरान्त शेष बच गया है,—धीरे-धीरे सुषुम्ना के पश्चिम मार्ग द्वारा विष्णुपदस्वरूप अन्तराल में लय हो जाता है अर्थात् सहस्रार में चढ़कर परब्रह्म में लय हो जाता है।'

### २४. तदा पश्चिमतो वेधाच्चित्तलयः।

तब सुषुम्ना के मार्ग का वेध होने से चित्त की लयावस्था आती है।

### २५. सिद्ध मंत्राणामाप्ति मातृका-संबोधात्।

मातृका शक्ति के जागने के कारण सिद्ध मन्त्रों की प्राप्ति होती है।

मातृका शक्ति कुण्डलिनी का वह स्वरूप है जिसमें शब्द और पदों की रचना सांहत अकार से क्षकार तक वर्णमाला बंखर वाणी द्वारा प्रकट होती है। इसीलिए कुण्डलिनी को सरस्वती भी कहते हैं। सरस्वती के सिद्ध होने पर मन्त्रों एवं पदों का स्वय विकास होने लगता है और योगी में व्याख्यान देने अथवा कविता रचने की शक्ति आ जाती है।

### २६. अष्टाङ्गयोग सिद्धिश्च।

और अष्टाङ्ग योग की सिद्धि होती है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—आठों अङ्ग धीरे-धीरे पुष्ट हो जाते हैं। यदि १२ घण्टे क्रियाओं का वेग चलता रहे तो एक घण्टे की धारणा, ५ मिनट का ध्यान तथा २५ सैकेण्ड की समाधि होती है—ऐसा अनुमान है। तदनुसार ही नीचे के अङ्ग भी उत्तरोत्तर पुष्ट होते हैं।

**२७. महायोगोदयो वा।**

अथवा यह कहें कि महायोग का उदय होता है।

**२८. नृत्यति गायति हसति रोदति च।**

और साधक नाचता है, गाता है, कभी हँसता है, कभी रोता है।

**२९. प्रणवादिनामोच्चारणं गानं कीर्तनम् च।**

प्रणवादि नामों का उच्चारण, गान और कीर्तन करता है।

**३०. दिव्य भावैर्मत्तो भवति।**

**३१. रौद्रादिभावैरपि सम्पन्नोभवति।**

दिव्य भावों में मस्त हो जाता है और रौद्रादि भावों से भी युक्त होता है।

रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास्य, वीर, करुणा, भय, घृणा (वीभत्स) और सप्रेम भक्ति अर्थात् शान्त,—ये ९ भाव हैं।

उक्त ९ प्रकार के भाव कभी-कभी आते हैं। इनके अतिरिक्त शिवभाव, दिव्यभाव और ब्रह्मभाव आदि भी होते हैं। इन भावों

के आने से मनुष्य उन्नत्तवत् दीखने लगता है। यही ज्ञानी की अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था में जीवभाव स्वल्प अथवा नहीं-सा हो जाता है।

**३२. भक्त्या परयाऽविष्टो भवति।**

परा भक्ति के आवेश में आ जाता है।

**३३. करोति सिद्ध दर्शनमिष्टदेवदर्शनञ्च।**

सिद्धों और इष्टदेव के दर्शन करता है।

**३४. ऊर्ध्वरेताश्च भवति।**

और ऊर्ध्वरेता हो जाता है।

यह बात तो सब जानते हैं कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है और वीर्य की रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य है। परन्तु, 'वीर्य की रक्षा किस प्रकार होती है ?'—यह बात बहुत कम लोग समझते हैं। बहुधा डाक्टरों का कथन है कि वीर्य की रक्षा के लिए काम के वेग को रोकने से नाना प्रकार के रोगों के होने की सम्भावना होती है। इसका अर्थ यह है कि बनने के पश्चात् वीर्य बाहर निकलने की प्रवृत्ति रखता है और उस को रोकने से हानि होती है। परन्तु अतिविषयासक्ति में अस्वाभाविक रीति से अनावश्यक परिमाण में वीर्य बनाकर नष्ट कर देने से और भी अधिक हानि होती है। ऐसे मनुष्य यक्ष्मा जैसे भयङ्कर रोगों का आवाहन करते हैं।

यह बात निश्चित् है कि विषयासक्ति में अस्वाभाविक रूप से वीर्य बनाने से शरीर की धातुओं पर कुठाराघात होता है,

क्योंकि उनका सत्व जबरदस्ती खींचा जाता है। परन्तु जो वीर्य स्वाभाविक रूप से बनता है, यदि उसकी रक्षा हो सके तो पूर्ण ब्रह्मचर्य का लाभ उठाया जा सकता है। डाक्टरों के मत के अनुसार वीर्य की उत्पत्ति इस प्रकार होती है कि जब पुरुष को काम का वेग उत्पन्न होता है, तब उसके रुधिर का प्रभाव अण्डकोषों की ग्रन्थियों में आने लगता है। वहाँ पर उन ग्रन्थियों में से निकलने वाले एक प्रकार के रस के रासायनिक प्रयोग (chemical action) से रुधिर के रक्त वर्ण कीटाणु वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में परिणत हो जाते हैं जिनको अंग्रेजी में spermatozoa कहते हैं।

उपरोक्त वीर्य के श्वेत कीटाणुओं में जनन-शक्ति होती है। यदि वे बाहर निकाल दिये जाएँ तो कोई हानि नहीं होती, क्योंकि उनका कार्य बाहर निकल कर स्त्री के गर्भाशय में गर्भ-स्थिति करना ही है। यदि कोई पुरुष उसको रोकता है तो स्वप्नदोष और प्रमेह आदि रोग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी अवस्था में ब्रह्मचर्य पालन का क्या तात्पर्य है ? यह बात विचारणीय है। हमारे महर्षियों का कथन है कि वीर्य प्राणशक्ति ही है और वीर्य के नष्ट होने से प्राणशक्ति का ह्रास होता है। अपान शक्ति का उत्थान होने पर, उदान रूपी अग्नि का योग होने से वीर्य की प्राणशक्ति ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है। ऐसे योगी का वीर्य स्खलित नहीं होता और मैथुनकाल में स्खलित होने पर भी उसका ब्रह्मचर्य नष्ट नहीं होता।

'बज्रौली' मुद्रा की सिद्धि होने पर तो उदान के वेग के कारण स्वप्नदोष द्वारा स्खलित होकर इन्द्रिय में उतर आया हुआ अथवा मैथुन द्वारा बाहर पात हुआ वीर्य भी पुनः ऊपर चढ़ जाता है। ऊपर जाकर वह लौटकर वीर्याशय या मूत्राशय में प्रवेश नहीं कर

सकता, वरन् उदान शक्ति की उष्णता से योनिस्थानस्थ रुधिर में मिल जाता है और प्राण का वेग सुषुम्णा में ऊर्ध्व-प्रवाह करने लगता है। योगियों ने इस क्रिया को रज-वीर्य का योग माना है—

**योनिस्थाने महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम्।**
**रजो वसति जन्तूनां देवीतत्वं समाहितम्॥**
**रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः।** —योगशिखो०

—'योनि-स्थान रूपी महा-क्षेत्र में, जवा कुसुम के वर्ण का रज हर एक जीवधारी के शरीर में रहता है। उसको देवी तत्व कहते हैं। उस रज और वीर्य के योग से राजयोग की प्राप्ति होती है अर्थात् दोनों के योग का फल राजयोग है।

गुदा और उपस्थ के मध्य में सींवनी के ऊपर त्रिकोणाकृति नरम स्थान है जिसको योनि-स्थान कहते हैं। वहाँ पर वीर्य चढ़ने से उष्णता उत्पन्न होती है जो वीर्य और रज की रासायनिक क्रिया की सूचक होती है।

**गलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले।**
**ज्वलितोपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम्॥**
**व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।**
**स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा॥**
**पाण्डुरं शुक्रमित्याहु र्लोहिताख्यं महारजः।**
**विद्रुम द्रुम संकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः॥**
**शशि स्थाने बसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्॥**
—योग-चूड़ामणि उपनिषत्, ध्यान बिन्दु उपनिषत्

—'गलित होने पर जब वीर्य योनिस्थान में पहुँचता है तो वह अग्नि में गिरकर जलता हुआ वह वीर्य योनि मुद्रा के अभ्यास से

हठात् ऊपर चढ़ा लिया जाता है। वह बिन्दु दो प्रकार का होता है,—श्वेत और रक्त। श्वेत को वीर्य और लाल को रज कहते हैं। मूँगा के रङ्ग का रज योनि-स्थान में रहता है और वीर्याशय रूपी चन्द्रस्थान में वीर्य रहता है। इन दोनों का मिलाप बड़ा दुर्लभ है। (यहाँ योनि का अर्थ पुरुष का उपरोक्त योनिस्थान है)।

वास्तव में वीर्य प्राण और ओज का स्थूल शरीर है। प्राण अथवा ओज के ऊर्ध्व गमन करने पर यदि कभी वीर्य स्खलित भी हो जाय तो उससे ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं आती। ऐसे योगी गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का ही पालन करते हैं। पूर्वकाल के वसिष्ठ, याज्ञवल्क्यादि सब ऋषि-मुनि गृहस्थी ही थे। प्रश्नोपनिषत् में कहा है—

**प्राणं एते प्रस्कन्दति यें दिवा रत्या संयुज्यते।**
**ब्रह्मचर्यमेव तद्रात्रौ रत्या संयुज्यते॥**

—प्रश्न० १ १३

—'जो दिन में रति कर्म करते हैं, उनके प्राण नष्ट होते हैं और जो रात्रि में रति कर्म करते हैं, वे ब्रह्मचर्य में ही रहते हैं।' क्योंकि दिन में सूर्य की प्राणशक्ति है, रात्रि में नहीं।

कुण्डलिनी शक्ति के जागने पर प्राण-अपान के स्वाभाविक ऊर्ध्वगामी हो जाने के कारण उनके ब्रह्मचर्य में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि उनकी प्राणशक्ति का ऊर्ध्व प्रवाह सतत् बना रहता है। जिनकी कुण्डलिनी शक्ति नहीं जागी है, वे लोग यदि अभ्यास करके वीर्य को ऊपर खींच भी लें तो वह रज से न मिलने के कारण मूत्र के साथ बाहर आ जाता है। इसलिए हठयोग प्रदी-

पिका में लिखा है कि बिना कुण्डलिनी जागे वज्रौली और खेचरी मुद्राएँ सिद्ध नहीं होतीं।

ऐसे योगियों को ऊर्ध्वरेता कहते हैं। साधारण लोगों को भी वीर्य-रक्षा करने से लाभ होता है, क्योंकि उनके प्राण और ओज का थोड़ा-बहुत ऊर्ध्व प्रवाह होता ही है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि मन में काम का विकार ही उत्पन्न न होने दिया जाय। विकार आने पर वीर्य बनना अनिवार्य है और बनने के पश्चात् वीर्य की रक्षा करना अति कठिन है।

### ३५. ततः खेचरीसिद्धिः।

उस (ऊर्ध्व रेता होने) से खेचरी की सिद्धि होती है। खेचरी का अर्थ प्राण का आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में गमन करता है।

### ३६. वीतराग विषयत्वम्।

वीतराग विषयत्व होता है।

पाँचों क्लेश तनु होने लगते हैं और मनुष्य के राग, द्वेष, भय, काम, क्रोध, मोह आदि का वेग शिथिल होकर क्षीण हो जाता है। अन्त में सब मल नष्ट हो जाता है, क्योंकि प्राणों के ऊर्ध्वगामी होने से इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होने लगती हैं और साधक विषयों से उपरत हो जाता है।

### ३७. सूर्येन्दुवह्नि दीपशिखा विद्युत् खद्योत् नक्षत्रादीनि ज्योतींषि पश्यति।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि और दीप-शिखा, बिजली, जुगनू, नक्षत्र इत्यादि ज्योतियाँ दिखायी पड़ती हैं। उक्त दर्शन तीन प्रकार से होते हैं—(१) बहिर्दृष्टि,—आँखें खोले हुए बाहर, (२) मध्य

दृष्टि,—नेत्र बन्द कर के ध्यान में, दृष्टा-दर्शन और दृश्य की त्रिपुटीयुक्त, (३) अर्न्तदृष्टि,—समाधि की सी अवस्था में।

**३८. ब्रह्मणि तदभिव्यक्तिकरणि श्रुतेः।**

ये ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराने वाली हैं, श्रुति भी प्रमाण है।

श्वेताश्वत्तर उपनिषत् में इनका वर्णन मिलता है कि ऐसे दर्शन चेतनस्वरूप आत्मदेव अथवा ब्रह्म के हैं। आत्मा और ब्रह्म तो अव्यक्त हैं, परन्तु उनकी उक्त अभिव्यक्ति चित्त की उपाधि के ही कारण होती है।

**३९. आरम्भ घटा परिचय निष्पत्तिभूमिकोपलब्धिः।**

आरम्भ, घटा, परिचय और निष्पत्ति भूमिकाओं की प्राप्ति होती है।

**आरम्भ अवस्था**—कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ और अन्तःकरण बहिर्मुख वृत्ति से हटकर अन्तर्मुख होने लगते हैं।

**घटावस्था**—सुषुम्णा को वेधकर प्राण आनखशिख पूरित होकर सुस्थिर हो जाता है।

**परिचय अवस्था**—ब्रह्मरन्ध्र सहस्रार में प्राण स्थिर होने से परिचय अवस्था होती है, क्योंकि वहाँ आत्मा का परिचय होता है।

**निष्पत्ति अवस्था**—जीवन-मुक्ति की दशा को कहते हैं।

**४०. प्रातिभादि विभूतयः।**

प्रातिभादि सिद्धियाँ आती हैं।

**४१. अधिकारी भेदतो न नियमः ।**

अधिकारी भेद से, यह नियम नहीं है कि उपरोक्त लक्षण सब में अवश्य ही हों।

**४२. ता नात्मनि चित्त धर्मत्वात् ।**

चित्त का धर्म होने के कारण वे आत्मा में नहीं होतीं।

उपरोक्त सब अवस्थाएँ आत्मा की नहीं हैं, क्योंकि ये सब चित्त के ही धर्म हैं।

**४३. नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावस्य न भूमिकत्वम् ।**

नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव स्वरूप आत्मा को भूमिकत्व नहीं होता।

**४४. आत्मख्यातिरेव ।**

भूमिकाओं की उत्तरोत्तर प्राप्ति में आत्मा का प्रकाश स्वरूप ज्ञान ही बढ़ता है।

'भूमिकाएँ क्या हैं ?' इसका उत्तर है—'चित्त पर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ आत्मा का प्रकाश।'

**४५. चित्त संयोगापत्तेश्चेन्न इति न ।**

यदि शङ्का की जाय कि—"भूमिकाएँ आत्मा में नहीं होतीं, चित्त में आत्मख्याति में होती हैं"—इस सिद्धान्त में चित्त का आत्मा के साथ संयोग मानना पड़ेगा, इसलिए यह सिद्धान्त ठीक नहीं। इसका उत्तर देते हैं, - नहीं, क्योंकि—

**४६. संयोगान्नबन्धः ।**

संयोग के कारण, बन्ध नहीं है।

**४७. आत्मनि चिदानन्दरूपत्वे द्वयोर्भेदात्**

आत्मा के चित् और आनन्द रूप होने से, आत्मा और चित्त दोनों में भेद होने के कारण, बन्ध नहीं हो सकता।

आत्मा चेतन है, चित्त जड़। दोनों का सम्बन्ध अथवा संयोग असम्भव है, इसलिए संयोग-जन्य बन्ध नहीं होता। आत्मा असङ्ग है, इसलिए उस में भूमिकत्व की असम्भावना है और वे चित्त के ही धर्म हैं। तो फिर,—'उस पर आत्मख्याति कैसी ?',—इस का उत्तर यह है—

**४८. तत्तु तादात्म्य मिथ्या ज्ञानमविवेकात्।**

यह तादात्म्य तो मिथ्या ज्ञान है, अविवेक के कारण।

**४९. असतिसत्ख्यातिर्वा ।**

अथवा कहो कि 'नहीं होने' में 'होने' की ख्याति है।

आत्मा और चित्त की तादात्म्यता तो नहीं है, परन्तु ऐसी प्रतीति होती है।

**५०. समाधौ प्रत्यगात्माभिगमात्तन्निवृत्तिस्तन्निवृत्तिः।**

समाधि में, वृत्तियों का सर्वथा निरोध होने पर, आत्म-साक्षात्कार होने से उस अविवेक की निवृत्ति हो जाती है, निवृत्ति हो जाती है।